PANCASUKTAM

BY

SRI VAISNAVASVAMI RAMA NARAYANADASA SASTRI

THE

HARIDAS SANSKRIT SERIES

290

******

PAÑCASŪKTAM

(1. Puruṣasūkta, 2. Nārāyaṇasūkta, 3. Śrīsūkta, 4. Lakṣmīsūkta, 5. Viṣṇusūkta with appendix.)

Edited with the 'Siddhānta Dīpikā' Sanskrit and Hindī Commentaries

By

ŚRĪ VAISṆAVASVĀMĪ RĀMA NĀRĀYĀṆADĀSA ŚĀSTRĪ

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1971

Gopal Mandir Lane,

P. O. Chowkhamba, Post Box 8,

Varanasi-1 (India)

1971

Phone : 63145

First Edition

1971

Price Rs. 1-25

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Phone : 63076



श्रीवैष्णव रामनारायणदास शास्त्री

प्राक्कथन

(१) पुरुषसूक्त

'पुरुषसूक्त' यहाँ तात्पर्य अक्षरशः परात्पर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम में घटित होता है।

आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्य्य ने कहा है—

'अपितु सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि परमात्मन एव निरुपाधिकं पुरुषत्वं सिद्धमिति (आनन्दभाष्य १-२-२७)

अर्थात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि वाक्य से ही परमात्मा का निरुपाधिक पुरुषत्व सिद्ध है। यह महापुरुषत्व भगवान् श्रीराम में सर्वतोभावेन व्याप्त है।

श्रीमद्भागवतपुराण में भी भगवान् श्रीराम जी का महापुरुष के रूप में वर्णन किया गया है—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्ट दोहं,
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धि पोतं,
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

(श्रीमद्भागवत ११-५-३३)

पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार का है—

'इमे वै लोका, पूरयन्नेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरिशेते तस्मात्पुरुषः' । (शतपथ ब्राह्मण १३-६-१)

इन लोकों में व्याप्त होकर जो पालन-पोषण करता है, वह पुरुष है तथा पुरी में अर्थात् चराचर प्राणिमात्र में, शोते = विराजमान (विद्यमान) है अथवा संपूर्ण ब्रह्माण्ड में शयन कर रहा है, वह पुरुष है।

इस विषय में श्रीशंकर जी ने पार्वती से स्वयं ही कहा है—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमणि मम स्वामी सोई, कहि शिव नायउ माथ ॥

(रामचरितमानस)

'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इति श्रुतिः ।
'रामः सत्यं परं ब्रह्म तस्मात्किञ्चिन्न विद्यते ।'

(सनत्कुमारसंहितान्तर्गत श्रीरामस्तवराज)

पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति राम शब्द से तुलना करती है—

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चराचरे ।
अन्तरात्मा स्वरूपेण तेन रामेति भण्यते ॥

सब भूत प्राणिमात्र में, स्थावरों में एवं चराचर में अन्तरात्मा स्वरूप से रमण करने के कारण वे राम कहे जाते हैं ।

रमतेऽन्तर्यामित्वेन सर्वभूतेष्वपि रामः ।
रामन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः ।

'रा' शब्दो विश्ववाचको मश्चापीश्वर वाचकः ।
विश्वेषानीश्वरो यो हि तेन रामः प्रकीर्तितः ॥

(महारामायण)

'रा' शब्द विश्ववाची और 'म' शब्द ईश्वरवाचक अतः जो संसार का ईश्वर है, उसी को राम कहते हैं ।

महदादि से विलक्षण अव्यक्त चेतनसत्ता और यह संपूर्ण महाभूतों का समष्टि रूप अखिल जीव समूहात्मक ब्रह्माण्डपिण्डस्वरूपधारी विराट्, वही श्रीराम पुरुष हुए । वही इस विराट् का उत्पत्ति, पालन और परिवर्तन इन तीनों क्रिया के संचालक हैं । तथा वही परमात्मापुरुष भगवान् श्रीराम ही अपनी स्वाभाविकी शक्ति (ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य तेज) विशिष्ट होकर सृष्टि का प्रमुख कारण है । इस विराट् का करणकारण एवं कर्ता वही परब्रह्म राम है ।

विराट् पुरुष का वर्णन इस पुरुषसूक्त में है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो ? सूर्योऽअजायत ।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ।। इत्यादि ॥

यह पुरुषसूक्त ऋक् मण्डल १०–७ सूक्त ९० वें में है ।

यजुर्वेद अध्याय ३१ वें में है । सामवेद पूर्वार्चिक अध्याय (प्रपाठक) छः चतुर्थ दशति में सहस्रशीर्षा से ५ मंत्र तक है । अथर्व काण्ड १९, अध्याय एक, सूक्त छठवें में १६ मंत्र हैं ।

इस पुरुषसूक्त को भक्तजन विराट् स्वरूपधारी महाविष्णु की स्तुतिरूप पढ़ा करते हैं । उपासक जन अपने-अपने इष्टदेवता की आराधना में इन सोलहों मन्त्रों से षोडशोपचार के द्वारा पूजन किया करते हैं । याज्ञिक लोग सभी महायज्ञों में पाठ करते हैं, इसको पुरुषमेध महायज्ञ का वर्णन करते हैं ।

कर्मठ लोग सभी शान्तिक तथा पौष्टिक यज्ञों में इन मन्त्रों से आहुति देते हैं । वैदिक लोग श्राद्ध आदिक कार्यों में पाठ करते हैं । ज्ञानीजन इसके अर्थ के अनुसन्धान से परमेश्वर श्रीराम स्वरूप तथा सत्ता का अनुसन्धान करके परमानन्द श्रीराम का अनुभव किया करते हैं । सब साधारण जनता इस विश्व की उत्पत्ति का इतिहास जानती है । राजनैतिक पुरुष इसे विश्व के संगठन का निगूढ़ रहस्य जानकर इसका मनन करते हैं । इन्हीं अनेक दृष्टिकोणों के कारण विद्वान् लोग इस पुरुषसूक्त के अनेक अर्थ करते हैं ।

(२) नारायणसूक्त

समस्त नरनारियों के एवं समस्त प्राणिमात्र के अन्तःकरण में जो अपना अयन (रहने का निवासस्थान) बना रखे हैं, उन्हीं का नाम नारायण है । वह भगवान् श्रीराम में ही अक्षरशः घटता है ।

श्रीरामजी का उद्देश्य करके काल के मुख से कहा हुआ, ब्रह्मा जी का वचन है—

संक्षिप्य हि पुरालोकान् मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्व पूर्वमजीजनः ॥
(वा० रा० उ० सर्ग १०४–४)

अर्थात् हे राम ! आपने अपनी माया के द्वारा ही सब लोकों को एकत्र करके समुद्र में शयन करते समय सृष्टिकाल में सर्वप्रथम मुझ (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया।

हम भगवान् सूर्यनारायण को पूजते हैं, वही सारे जगत् के तेज और प्रकाश का केन्द्र हैं, उनके बिना समस्त जगत् का प्रकाश और ऊष्मा तत्काल ही नष्ट हो जाता है सबके अन्दर की गर्मी नष्ट हो जाती है, एकाएक प्रलय का दृश्य सामने आ जाता है।

समस्त जीवों के मन का केन्द्र चन्द्रमण्डल है। वायु का केन्द्र वायुलोक है। कामना एवं मनोज (मदन) भावनाओं का केन्द्र कामलोक है। वहाँ भी कामदेव नामक दिव्य पुरुष है जिसकी सुन्दरता की विश्व में कोई समानता नहीं रखता है। अनुराग की अधिष्ठात्री देवता रति है, जो कि इस कामदेव की सहचरी है।

केन्द्र उसे कहते हैं कि जहाँ से संसार की सब वस्तुओं को सजातीय पदार्थ प्राप्त होता है, अथवा उन-उन वस्तुओं का अभ्यन्तर द्योतमान तत्त्व जो कि अति सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता है, किन्तु अवश्य ही रहता है।

यद्यपि इन सबके भी सर्वोच्च केन्द्र एक परात्पर ब्रह्म राम ही हैं, किन्तु इस विराट् विश्व में विशेष अधिकारों पर कार्य करने वाले देवता भी तो उन्हीं परमेश्वर के स्वरूप हैं। इसीसे वे हमारे पूजनीय एवं आराध्य हैं।

(३) विष्णुसूक्त

व्यापकोऽपि हि नित्यश्च सर्वस्मिञ्चराचरेषु।
विष्लृ व्यापकाद् धातोश्च विष्णुरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् सम्पूर्ण चराचर में नित्य ही व्यापक होने के कारण उनको ही विष्णु कहते हैं। एवं सम्पूर्ण चराचर में रमण करने से उन्हीं को राम भी कहते हैं।

वे ही इस महान् विराट् विश्व के जीवनतत्त्व हैं या जिसके द्वारा यह

समस्त विश्व जीवित है, किसी न किसी नियमित क्रिया को करता रहता है, उस महान् निगूढ़ व्यापक महाशक्तिसंपन्न तत्त्व का नाम महाविष्णु है।

वह निर्विकार निर्लेप ब्रह्म "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेम" मैं एक से अनेक रूप में प्रकट होऊँ, यह संकल्प करता है, तत्काल कार्यरूप वाला बन ही जाता है तथा नानाविध रूप से भासता है।

श्रियः कमलवासिन्या रमणोऽयं महाप्रभुः।
तस्माच्छ्रीराम इत्यस्य नाम सिद्धं पुरातनम्॥
सहस्रनाम्नां श्रीशस्य तुल्यं मुक्तिप्रदम् नृणाम्।
विष्णुमासि समुत्पन्नो विष्णुरित्यभिधीयते॥
(पद्मपुराण उत्तरखण्ड २६९–७४–७५)

अर्थात् यह महाप्रभु कमल में निवास करनेवाली श्री देवी के साथ रमण करनेवाले हैं, इसलिये इनका पुरातन पावन नाम श्रीराम स्वतःसिद्ध है। यह एक राम नाम विष्णु के सहस्र नाम के तुल्य है एवं मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करनेवाले हैं। विष्णुमासि = चैत्र मास विष्णु का मास है, अतः चैत्र मास में प्रकट होने से ही श्रीरामजी विष्णु कहे जाते हैं।

अपने उत्कर्ष से ही उनका नाम 'राम' ऐसा विख्यात हुआ। "रामो नाम जनैः श्रुतः" इत्यादि वचनों से प्रसिद्ध है। वे सबको अभिराम (आराम = आनन्द) चारों ओर से आराम देते हैं। चतुर्विध स्वाश्रितेभ्योऽखिलान् धर्मार्थ-काममोक्षान् ददातीति श्रीरामः। अर्थात् जो चतुर्विध भक्तजन हैं उनको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देते हैं, अतः वे राम कहे जाते हैं।

इस उपर्युक्त प्रकार से ही संपूर्ण जगदात्मा परमेश्वर श्रीराम जी हैं। उनसे अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है। जो कुछ भूत, भविष्य और वर्तमान है, वह सब श्रीराममय ही है। इस भावना को इस सूक्त में हम प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति उस जगदात्मा श्रीराम जी का चिन्तन करता है वह शाश्वत आनन्द का अनुभव करता रहता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

(४) श्रीसूक्तम्

श्री और सीताजी में कोई भेद नहीं है। श्री का नाम ही तो सीता है—

श्रियः श्रीश्चभवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा।

(वा. रा. २–४४–१५)

जो श्री की भी श्री है तथा कीर्ति की भी कीर्ति है और पृथ्वी से भी अधिक क्षमाशीला हैं।

रामः साक्षात्परं ज्योतिः परंधाम परः पुमान्।
आकृतौ परमोभेदो न सीतारामयोर्यतः॥

(अद्भुत रामायण सर्ग १–१९)

श्री सीताराम जी की आकृति में भेद होते हुए भी तत्वदृष्टि से किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है। 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः' इस न्याय के अनुसार परब्रह्म राम से सीता जी कभी भी पृथक् नहीं रह सकतीं।

इस विषय में कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदास ने भी (अयोध्याकाण्ड में) कहा है—

प्रभा जाई कहँ भानु विहाई। कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई॥

और भी—

मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिः स्मृता।
प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरुच्यते॥

(सीतोपनिषद्)

मूल प्रकृतिरूप होने से ही सीता जी को प्रकृति कहा गया है। श्री सीता जी स्वयं ही प्रणवरूपिणी अर्थात्—प्रणव = अक्षररूपा महासत्ता हैं, यहाँ उसी अर्थ में प्रकृति कहा गया है।

यह प्रकृति तत्व उभय विध है:—

नित्य विभूति और लीला विभूति ये दोनों विभूतियाँ अनादि हैं। सत्त्व रज और तम की साम्य (समान) अवस्था मूलप्रकृति कही जाती है और सत्त्व रज और तम की विषम अवस्था कार्यरूपा प्रकृति कही जाती है।

सांख्यमत में प्रकृति त्रिगुणात्मिका तथा चैतन्यरहित है, परन्तु 'श्री' जी तो नित्य चेतन हैं। भगवान् की शक्ति का नाम 'श्री' है।

'मूलप्रकृतिरविकृतिमहदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त'

(सांख्यकारिका ३)

यह मूल प्रकृति विकृतिरहित है, परन्तु महदादि सप्त रूप विकारों को उत्पन्न करती है (महत्तत्व अहंकार पञ्चतन्मात्राएँ) प्रकृति और विकृति दोनों हैं।

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम्॥
सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥

(सीतोपनिषद्)

जासु अंश उपजहि गुन खानी। अगणित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि विलास जासु जग होई। राम वाम दिशि सीता सोई॥

(रा० मानस)

उस महाविष्णु की सहचारिणी दो देवियाँ श्री और लक्ष्मी हैं। "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" हे भगवन्! श्री और लक्ष्मी तुम्हारी दोनों पत्नियाँ हैं, अर्थात् समस्त विश्व की शोभा उसी परमेश्वर (श्रीराम) की शोभा है और संपदा भी उसी परमात्मा राम की है। श्री सीताजी ही प्रकृति, शक्ति, जगदम्बा, परमेश्वरी, इत्यादि से प्रसिद्ध हैं।

(५) लक्ष्मीसूक्तम्

श्रीलक्ष्मी जी प्रलयकाल के समय में विश्राम करने के लिये भगवान् के दाहिने वक्षःस्थल पर 'श्रीवत्स' की आकृति को धारण कर विश्राम करती हैं और वही श्रीसीता के रूप में भगवान् रामजी के संकल्पानुसार समस्त लोकों की रक्षा के लिये कल्याण के रूप में प्रकट होती हैं।

आदि शक्ति छबिनिधि जगमूला। बाम भाग शोभति अनुकूला॥
(श्रीरामचरितमानस)

लक्ष्मी शब्द राजलक्ष्मी वाचक है और विभूति (ऐश्वर्य) वाचक है।

लक्षयति = पश्यतीति लक्ष्मीः। शक्ति के एक होने पर भी कार्यभेद से भिन्नता होती है। वस्तुतः जो 'श्री' है वही लक्ष्मी है।

'श्री' 'लक्ष्मी' इस दोनों सूक्तों में कार्यभेद के अनुसार ही पृथक् पृथक् वर्णन हुआ है। इन सूक्तों के चिन्तन से तथा पठन करने से मनुष्य के सभी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं।

इन सूक्तों में भगवती सर्वेश्वरी और भगवान् सर्वेश्वर श्रीरामजी के महान् वैभव का वर्णन पाया जाता है।

वेद

वेद चार हैं—ऋक् यजुः साम और अथर्व। परन्तु विषयभेद से इनके तीन भेद हैं, ज्ञान, कर्म और उपासना।

इनकी शाखाएँ भिन्न-भिन्न हैं—

१—ऋक् की पच्चीस शाखायें मुख्य हैं, परन्तु वर्तमान में दो ही मिलते हैं—शाकल और बाष्कल। जिसमें मण्डल सूक्तादि से विभाग किया गया है, वह शाकल संहिता कहलाता है और जिसमें अध्याय, वर्ग इत्यादि से विभाग किया गया है, वह बाष्कल संहिता कहलाता है।

२—यजुः शुक्ल और कृष्ण भेद से दोनों मिलकर एक सौ एक शाखायें हैं। किन्तु वर्तमान में तीन ही मिलते हैं—तैत्तरीय, कठ और मैत्रायणी। परन्तु व्यवहार में कण्व और मध्यान्दिनी दो ही किया जाता है।

३—साम की एक हजार शाखायें हैं। परन्तु वर्तमान में तीन ही मिलते हैं—कौथुमी, जैमिनीया और रामायणीया।

४—अथर्व की सोलह शाखायें हैं। परन्तु दो ही मिलते हैं—पैप्पलाद और शौनक।

प्रत्येक वेद का एक-एक उपवेद भी है—ऋक् का आयुर्वेद (चरक) है। यजुः का धनुर्वेद (सश्रुत आदि) शस्त्राङ्ग और अस्त्राङ्ग। साम का गान्धर्व वेद, (गायन के सहस्र प्रकार का भेद और सप्त स्वर)। अथर्व का अथर्ववेद (अर्थशास्त्र के सैकड़ों ग्रन्थ इन्हीं से निकले हैं)।

प्रत्येक वेद के ब्राह्मण भाग हैं—ऋक् के ऐतरेयादि। यजुः के शतपथादि। साम के पंचविंश ब्राह्मणादि। अथर्व के गोपथादि।

फिर प्रत्येक वेद के उपनिषद् हैं—ऋक् के ऐतरेयादि अनेक उपनिषद् हैं। यजुः के ईशादि है। साम के तवल्कारादि हैं। अथर्व के मुण्डकोपनिषदादि हैं।

दश उपनिषद् मुख्य हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मण्डूक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

शब्द ब्रह्म और परब्रह्म—

'शब्दब्रह्मणिनिष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'

जो शब्द ब्रह्म को जानता है वही परब्रह्म को जान सकता है।

दो विद्या ज्ञातव्य है—परा और अपरा। अपरा चारों वेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त एवं ज्योतिष इनको जानना चाहिए।

पराविद्या—जिसके द्वारा अविनाशी परब्रह्म का ज्ञान होता है। यथा—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् वेद अध्ययन के अनन्तर ही ब्रह्म जानने की जिज्ञासा होती है 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इत्यादि जानना चाहिये।

इस पुस्तक के लेखन सम्बन्ध में जिन विद्वानों से जो कुछ सहायता मिली है, उनके नाम नीचे लिखित हैं।

प्रो॰ डॉ॰ ब्रजविहारी चौबेजी, साधुआश्रम होशियारपुर (पंजाब) अनुमिति दी है। पण्डित सम्राट् श्रीवैष्णवाचार्य जी, श्रीवैष्णव निवास, कालूपुर दरवाजे के अन्दर, अहमदाबाद। परिशिष्ट भाग में यजुर्वेद पाठ करने का उच्चारण एवं हाथ चलाने की विधि और व्याकरण का विषय लिखकर—जि॰ चमोली, रुद्रप्रयाग बद्रीनाथधाम, वेदभवन संस्कृत महाविद्यालय प्रधानाध्यापक, श्रीमान् पं॰ सोमनाथ माथुर दीक्षित वेदाचार्य ने मुझे सहायता दी है। श्रीमान् जानकी

दास जी श्रीवैष्णव, श्रीहनुमान् वाटिका अयोध्या की ओर से भारत में महा-पुरुषों के चित्र छपवाकर इस पुस्तक में लगाने की अनुमति प्रदान किया है। इन उपर्युक्त महानुभावों के लिये 'पंचसूक्त' के सिद्धान्तदीपिका टीकाकार श्रीवैष्णव स्वामी रामनारायण दास शास्त्री जी श्रीस्वामी शीतलदास जी का स्थान अस्सी काशी की ओर से कोटिशः धन्यवाद है।

मैं यद्यपि एक साधारण मनुष्य हूँ, और यह समझता हूँ कि मुझ जैसा अल्पज्ञ व्यक्ति का वेद विषय में साहस करना हास्यजनक ही है तथापि मैंने स्वान्तःसुख के लिये यथाशक्ति जो कुछ विचार व्यक्त किया है। वह विद्वद्जन महानुभावों की कृपा एवं अनन्त गुणगण-करुणा-वरुणालय भगवान् पुरुषोत्तम श्रीराम जी की असीम अनुकम्पा का ही मुझे प्रेरित का फल है।

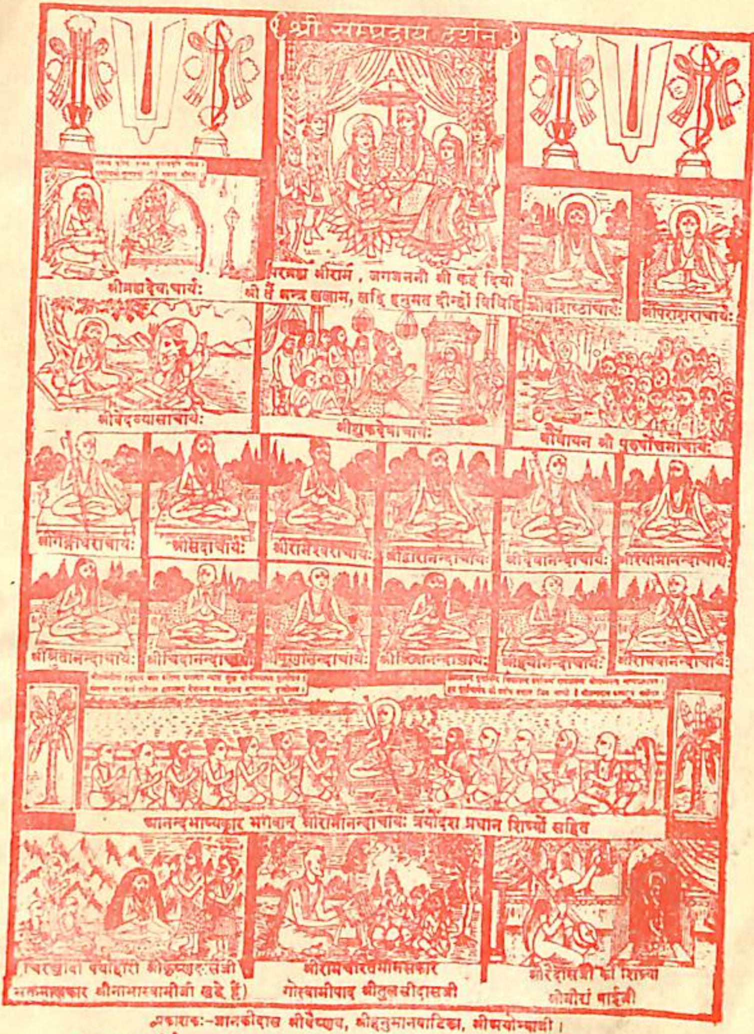
गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिः, तिरस्कृता यान्ति नरा महत्वम्।

आशा करता हूँ कि भगवद् भागवतपादारविन्द-चरणानुरागी श्रद्धालु पाठकों का इससे अवश्य ही कल्याण होगा।

हरि सेवार्थ धर्मेषु प्रसारे राजकर्मणाम्।
विषयाणामेनकेषां पठने लग्नचेतसाम् ॥ १ ॥
गम्भीराच्च यजुर्वेदात्तत्त्वबोधाक्षमात्मनाम्।
आञ्जस्येनविवित्सूनां शब्दानां भावमुज्वलम् ॥ २ ॥
तेषामल्पधियामल्पकालैः शास्त्रं विविक्षताम्।
बालानामुपकाराय वाराणस्यामस्सी तटे ॥ ३ ॥
सिद्धशीलतदासस्य शिष्यस्यानल्प योगिनः।
शिष्यो दासश्च रामस्य ब्रह्मणोगुणवारिधेः ॥ ४ ॥
रामनारायणाख्येन क्रियते तत्त्वबुद्धये।
श्रीयुक्तपञ्चसूक्तस्य व्याख्या सिद्धान्तदीपिका ॥ ५ ॥

विनीत—

श्रीवैष्णव स्वामी रामनारायण दास शास्त्री



प्रकाशकः-जानकीदास श्रीवैष्णव, श्रीहनुमानवाटिका, श्रीअयोध्याजी।
व्यवस्थापकः-श्रीवैष्णव-साहित्य-संस्थान, श्रीरामवल्लभाशरणाश्रम, आगरा रोड, जयपुर।

श्रीरामवल्लभा शरणाश्रम जयपुर कीओरसे समर्पित।

॥ श्रीः ॥

पञ्चसूक्तम्

'सिद्धान्तदीपिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(१) पुरुषसूक्तम्

हरिः ॐ तत्सत् श्रीपरमात्मने परात्परब्रह्मणे भगवते श्रीरामचन्द्राय नमः।
श्रीमदानन्दभाष्यकारभगवच्छ्रीरामानन्दाचार्य्याय नमः।

अथ ध्यानम्

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं, तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल-भवाब्धि-पोतं, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

सहस्रशीर्षेति नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता निच्यृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः। शुद्धब्रह्मज्ञापनाय उपासनाय च विशिष्टब्रह्मणो वर्णनम्—

हरिः ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

पुरुषमेधरूपस्य परमात्मनोऽवयवाः पूर्वाध्यायान्ते प्रोक्तास्तेषामवयवी पुरुषोऽत्र स्तूयते।

अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः "पुरुषान्न परं किञ्चित्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः। पुरुषशब्दस्यालौकिकार्थपरत्वम्॥

सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यः चतुर्दशभुवनाभिव्याप्तः (चतुर्दशभुवनं वर्तुलाकारं कृत्वा तिष्ठतीति भावः)। पुरे ओषति प्रकाशयतीति पुरुषः। दाहप्रकाशयोरेकाधिकरणत्वादिति।

यद्वा—"सोऽयं पुरुषोऽस्ति। इमे वै लोकाः, पूरयन्नेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः" (शतपथ ब्राह्मण १३-६-१)।

सहस्रशीर्षा = सहस्राणि बहूनि असंख्यातानि अनन्तानीत्यर्थः। शीर्षाणि = सर्वप्राणिशिरांसि विद्यन्ते यस्य ब्रह्माण्डव्याप्तस्य पुरुषस्य सः। शिरोग्रहणं सर्वावयवोपलक्षणमिति। तेनासौ 'पुरुषः सहस्रमुखः सहस्रोदर' इत्यादिरूपो ज्ञेयः। यानि

सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि तद्देहान्तःपातित्वात्तस्यैवेति सहस्रशीर्षत्वमिति। सर्वस्थूलाङ्गोपलक्षणार्थमित्यर्थः॥

ननु कथं तर्हि अनन्तशीर्षा भगवान्? उच्यते। भगवान् हि शरीरी। सजीवं निर्जीवं च सर्वं जगत्तस्य शरीरम्। 'यस्यात्मा शरीरम्' 'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्' इत्यादिवाक्येषु सर्वस्य जगतः परमपुरुषस्य भगवतः श्रीरामस्य शरीरत्वेनाभिहितत्वात्। उक्तञ्चानन्दभाष्यकारैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्य्यैः—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्।' 'योऽप्सु तिष्ठन् यस्यापः शरीरम्' 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिभिरचेतनवर्गशरीरकत्वेन 'य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादिभिश्चेतनजीवेन्द्रादिशरीरकत्वेन चानुसन्धानं बहुश उपलभ्यते (आनन्दभाष्ये १–१–३२) इति। इन्द्रादितो नर-पशु-पक्षि-कृमि-कीटादीनां तच्छरीरभूतानां शिरांसि तस्यैव शरीरिणः। शरीरशरीरिणोरभेदस्य प्रसिद्धत्वादिति।

सहस्राक्षः=सहस्राणि असंख्यातानि अक्षीणि नेत्राणि विद्यन्ते यस्य सः। अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षणार्थमिति। तेनासौ सहस्रश्रोत्रः सहस्रजिह्व इत्यादि।

सहस्रपात्=सहस्राणि असंख्याताः पादाः यस्य सः। अनन्तचरण इत्यर्थः। पादग्रहणं सर्वकर्मेन्द्रियोपलक्षणार्थमिति। तेनायं सहस्रबाहुः सहस्रमेढ् इत्यादि।

सः=अन्तर्यामी। पुरुषः=परमेश्वरः। निरुपाधिकपुरुषत्ववानित्यर्थः। तथोक्तमानन्दभाष्यकारैराचार्य्यसार्वभौमैः श्रीरामानन्दाचार्यैः—अपितु "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादिवाक्यतः परमात्मन एव निरुपाधिकं पुरुषत्वं सिद्धमिति (आनन्दभाष्यम् १–२–२७)।

भूमिशब्दोऽत्र आधारोपलक्षकमिति। तेन त्रैलोक्यवर्त्तिनः पार्थिवदेहान् व्याप्य इत्यर्थः।

भूमिम्=ब्रह्माण्डगोलरूपां मेदिनीम्। सर्वतः=विश्वतः, ऊर्ध्वमधोऽग्रादितोऽन्तर्बहिश्च। स्पृत्वा=व्याप्य परिवेष्ट्य इत्यर्थः।

यद्वा—भूमिशब्दः पञ्चभूतोपलक्षकः। तेन पञ्चभूतानि व्याप्य इत्यर्थः।

दशाङ्गुलम्=दशाङ्गुलपरिमितं भूमण्डलदेशम्। अत्र दशाङ्गुलशब्दोऽल्पद्योतकः।

अत्यतिष्ठत्=अध्यतिष्ठत्, अतिक्राम्यावस्थित इत्यर्थः।

यद्वा—नाभेः सकाशादूर्ध्वं दशाङ्गुलं दूरप्रदेशं हृदयमिति यावत्, अतिक्राम्य हृदि स्थितः। "सोऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" इति श्रुतिः।

विज्ञानात्मनो हृदयावस्थानं कर्मफलोपभोगार्थमन्तर्यामिणः स्थितिर्नियन्तृत्वेन इत्यत आह। यथा—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽअभिचाकशीति॥ (ऋ. १–१६४–२०)

शुद्ध ब्रह्म ज्ञापनार्थ और उपासना के लिये विशिष्ट ब्रह्म का वर्णन इस सूक्त में है।

जो अव्यक्त महदादि से विलक्षण चेतन पुरुष श्रुतियों में प्रसिद्ध है, वह सब प्राणियों की समष्टि ब्रह्माण्डदेहयुक्त विराडरूप पुरुष है।

वह अनन्त शिर से युक्त है अर्थात्—सब प्राणियों के जितने शिर हैं, वे सब उस विराट् पुरुष के अन्तर्वर्ती होने से वही पुरुष अनन्त शिर वाला है। शरीर में मस्तिष्क सबसे श्रेष्ठ अवयव है। वही सब ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है।

इसी प्रकार असंख्य नेत्रादिकों से युक्त होने से वह पुरुष सब विज्ञानेन्द्रिय वाला है। सहस्र चरणों से युक्त होने से वही परमेश्वर सब कर्मेन्द्रिय वाला है।

वह पुरुष ब्रह्माण्ड गोल रूप वाली पृथ्वी आदि एवं पञ्च भूतों के तिर्यग् ऊपर नीचे अन्दर बाहर सब ओर से व्याप्त (घेर) कर दशाङ्गुल परिमित संपूर्ण देशों को अतिक्रमण कर स्थित हुआ है।

व्यापक के विषय में कविकुलभूषण सम्राट् श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने बहुत सुन्दर रीति से रामायण में लिखा है—

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेश पुराना॥
सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
पद पाताल शीस अजधामा। अपर लोक अङ्ग-अङ्ग विश्रामा॥
विश्वरूप रघुवंशमणि, करहु वचन विश्वासु।
लोक कल्पना वेदकर, अङ्ग-अङ्ग प्रति जासु॥
(बा० दोहा ११६ के ऊपर। लं० दो० १४)

नाभि से दस अंगुल परिमित ऊपर हृदय कमल में अन्तर्यामी रूप से स्थित है—

अन्तर्यामी राम सिय, तुम सर्वग्य सुजान।
सबके उर अन्तर बसहु जानहु भाउ कुभाउ॥
(अयोध्या दो० २५६)

वह विज्ञानमय पुरुष कर्मफल भोगने के लिये ही हृदय में निवास करता है।

कुछ विशेषता—भगवान् अनन्त शिर वाले कैसे हैं? भगवान् ही शरीरी है, सजीव और निर्जीव संपूर्ण जगत् उनका शरीर है। पृथ्वी में रहता हुआ जिसका

पृथिवी शरीर है। जल में रहता हुआ, जिसका जल शरीर है। आत्मा में रहता हुआ आत्मा जिसका शरीर है। इन्द्रादिक से लेकर नरपशुपक्षी आदि जगदान्तर्गत हैं। परमात्मा अपने स्वरूप से (अर्थात् विराट् शक्ति से) सर्वव्यापक शरीर और शरीरी में अभेद है।

जैसे—व्यवहार होता है कि—मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, यहाँ मैं पद शरीर का नहीं किन्तु जीव का है। जीव कभी भी न स्थूल होता है, न कृश होता है। परन्तु जिस शरीर में वह शरीरी है, उसी शरीर का सुख-दुःखादि धर्म उसे मिले हुए प्रतीत होते हैं। अतः मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, यह व्यवहार होता है। यह व्यवहार आबालवृद्ध, आमूर्खपण्डित सभी किया करते हैं। इसी प्रकार इस देह का अधिष्ठाता जीवात्मा, जीव, देही, वा शरीरी कहा जाता है।

उसी प्रकार ब्रह्माण्डरूप शरीर में रहने वाला व्यापक परमेश्वर ब्रह्माण्डरूप शरीर का शरीरी माना जाता है।

विराट् परमेश्वर का ध्यान, चिन्तन, उपासना आदि हृदय में ही होती है। वह हृदय दशाङ्गुल परिमित प्रदेश को घेरता है। अतः दशाङ्गुल शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो लोग उपासना, चिन्तन, ध्यानादि के लिये हृदय को नहीं मानते किन्तु मन को उचित मानते हैं। उन्हें दशाङ्गुल शब्द से छोटे-बड़े दोनों मस्तिष्क अभिप्रेत हैं। मन मस्तिष्क में रहता है। दोनों मस्तिष्कों का प्रदेश भी दशाङ्गुल परिमित ही है। उपासना का स्थान चाहे हृदय मानिये, चाहे मन, दोनों ही दशाङ्गुल हैं। माप की दृष्टि से भी दशाङ्गुल कहा गया है और सूक्ष्मता की दृष्टि से भी दशाङ्गुल कहा गया है।

अतः उस नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सच्चिदानन्दघन परमेश्वर श्रीराम की उपासना करने से मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

ननु कथं पुरुषस्य सहस्रशीर्षत्वं सहस्राक्षत्वं सहस्रपादत्वं चेच्छङ्कया—उत्तरं भगवती श्रुतिः स्वमुखेनैव स्तौति पुरुष इति।

सत्त्वगुणप्रधानकर्मस्वभावैः परिपूर्णः पुरुषोऽस्ति। स एव=असौ हि चिदचिद्विशिष्टः पुरुषः। इदं सर्वम्=निखिलप्रत्यक्षवर्तमानं वनलतागुल्मगिरिनद्यादि विश्वमिति। यद्भूतम्=यदतीतकालिकं जगत्। यच्च भाव्यं=यदुत्पत्स्यमानं भविष्यत्कालिकं जगत्। तत्सर्वं पुरुष एव=परमात्मा एव कालरूपोऽधिकृतोऽस्ति (शरीरशरीरिणोरभेदसिद्धिरेव इयमुक्तिः) यथा—अस्मिन्कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सन्तिः, सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः सन्ति। तथैव—अतीतकल्पे आगामिकल्पेऽपि विजानीयादिति भावः। उत=अपि चायं पुरुषः। अमृतत्वस्य=जन्ममरणमहारोगयोः समूलमुच्छेत्तुः पदस्यापि। ईशानः=स्वामी। अथवा अमरत्वस्य अविनाशिनो मोक्षसुखस्य वा। ईशानः=अधिष्ठाता अधिपतिरित्यर्थः।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मात्तदन्नम्। यदन्नेन=यस्मात्कारणाद् अदनीयेन प्राणिनां भोज्यान्ने फले निमित्तभूतेन। स्वकीयकारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति। तस्मात्पुरुष एव प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः। किञ्च यज्जीवजातमन्नेन। अतिरोहति=अतिशयेन जायते उत्पद्यते प्रादुर्भावं लभते, इत्यर्थः। प्ररोहति=उत्पत्तिं स्थितिं जगदवस्थां च प्राप्नोतीति भावः।

यथा—प्राणिनां भोज्यान्नेन निमित्तेन जन्ममृत्यु भवति अर्थात्-प्राणिनः परिणामिनो भवन्ति। तथैव ईश्वरोऽपि परिणामी इत्याशंक्य आह—अमृतत्वस्यामरणधर्मस्येशानो मुक्तेरीशो मुक्तिप्रद इत्यर्थः। यो हि मोक्षेश्वरो नासौ स्वयं म्रियत इति भावः। संपूर्णजीवानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तभूतग्रामस्य। "इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्तीति" श्रुतेः। ईशानः=ईशनशीलो नियन्ता स्वामी इत्यर्थः। ये च स्थावरवृक्षशीलादयो जलाहारेण। अतिरोहति=अतिशयेन वर्द्धन्ते अधिकां वृद्धिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।

ननु प्रपञ्चाधीशितुः कथं प्रपञ्चवत्प्रादुर्भाव इति? चेच्छृणु—ईश्वरविग्रहाणां प्रपञ्चान्तर्गतत्वाभावात्।

यदात्मको भगवाँस्तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मकोऽसौ? ज्ञानात्मकः "चैतन्यात्मको मोक्षात्मकश्चेति" श्रुतिः। अत एव न केवलं सर्वात्मक एव किन्तु—अमृतत्वस्य नित्यनिजानन्दस्यापीश्वरः प्रभुरिति यावत्। अतो यः सर्वेषां प्राणिनामीश्वरः स्वामी श्रीरामोऽस्ति। स एव उपासनीय इति भावः॥ २॥

सत्वगुण प्रधान कर्म स्वभाव से परिपूर्ण चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा के आधार से ही यह वर्तमान विश्व, भूत जगत् और भविष्य जगत् है।

यह सब परमात्मा ही काल रूप है "भुवनेश्वर कालहुकर काला" (श्रीरामचरितमानस)। अर्थात् जैसे—इस कल्प में वर्तमान प्राणिसमूह

विराट् पुरुष के अङ्गावयव हैं। वैसे ही अतीतकल्प में थे और आगामी कल्पों में जानिये। शरीर और शरीरी का अभेद है।

वह परमात्मा समस्त जगत् को, सांसारिक पदार्थों के अतिरिक्त मृत्युरहित मोक्षसुखदाता है। और जीवों के शरीर का भी वही अधिष्ठाता है। ब्रह्मादि प्राणीमात्र स्थावर-जंगमादि को उत्पन्न करते हैं।

अर्थात् वही अन्न-जल-भोजनादि पदार्थों से सब की अतिवृद्धि करते हैं। वह पुरुष सब का स्वामी श्री रामजी हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि उनमें पूज्यत्व बुद्धि रखकर मन, वाणी, शरीर से जप-तप आदि करके परलोक के लिये सामग्री संचित करे ॥ २ ॥

एतावा॑नस्य महि॒माऽतो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः ॥
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भूतानि॑ त्रिपाद॑स्या॒मृत॑न्दिवि ॥ ३ ॥

यदीदं सर्वं व्यापकत्वमतीतानागतवर्तमानकालसम्बद्धं प्राणिजातं जगद् यावद्वस्त्वस्ति। ईशितृत्वं मोक्षेश्वरत्वं चैतावानस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीय-सामर्थ्यविशेषो विभूतिः प्रभावैश्वर्यस्य शक्तेर्विस्तारस्य वा द्योतकः।

सः पूरुषः = पूरूणां सोढा विनाशकर्ता चातो भूतभविष्यद्वर्तमानजगतो ज्यायानतिदूरेऽवस्थितः।

येषु भूतेषु व्यापकत्वादयं सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपाच्च भवति। यस्य त्रिविधस्य जगतोऽयमीशानो भवति। तेभ्यः सर्वेभ्योऽयं ज्यायानतिदूरस्थः स्वभावतो भिन्न इत्यर्थः। अनेन जगतो जीवस्य च परमेश्वराद् भेदः प्रतिपादितो भवति।

अस्य = सर्वेश्वरस्य त्रिपात् त्रयाणां लोकानां पाता रक्षकः। पादः = चरणः। विश्वा भूतानि सर्वेषां भूतानामाधारो भक्तानां सेव्यश्च (विश्वाभूतानि षष्ठ्यर्थे प्रथमा) सेव्य आधारश्चेति पदद्वयमध्याहार्य्यम्। पादोऽस्य = अत्र पादशब्दः अधिष्ठान-परत्वमिति। विश्वा भूतानि अस्य अधिष्ठेयपरत्वमिति। तथा चाधाराधेययोरभेद-विवक्षया सामानाधिकरण्यमेकवचनस्य सामान्यार्थपरत्वेन, अस्य पुरुषस्य पाद-शब्दवाच्यलोकेषु। विश्वशब्दः सर्वाणि भूतानि पाद इव पादः अंशभूत इत्यर्थः। "अंशो नाना व्यपदेशादिति" इति ब्रह्मसूत्रात् "ममैवांशो जीवलोक" इति स्मृतेः। किञ्च सहस्रशीर्षेत्यादि स्वरूपं तु व्यापकतया ज्ञातव्यम्। व्यापकं तु व्याप्य-समकाल नियतम्। व्याप्यं च न सर्वादिकम्। अतस्तस्य उपासकैरुपास्यम्। अमृतम् = अमरणधर्मविनाशरहितं स्वरूपं तु दिवि = द्योतनात्मके लोके दिव्ये

मनसि चोपासकानां विद्योतते। यस्य भगवत्स्वरूपस्य पाद उपासकैः सेव्यते। तत्स्वरूपं तु दिवि विद्यत इति भावः।

अथवा—अतः = अस्मात्कारणान्महिम्नो जगज्जालात्, पुरुषः = पुरुषोत्तमः, ज्यायान् च = अतिशयेनाधिको बृहत्तमः। अस्य = जगत्स्रष्टुः, जगदीश्वरस्य, एकः पादः = चतुर्थांशः। विश्वाः = चराचरात्मकानि सर्वाणि, भूतानि = कालत्रयवर्तीनि पृथिव्यादीनि प्राणिजातानि स्थावरजङ्गमादीनि च। उक्तं च गीतायाम्—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।' अस्य = पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपं विज्ञानमयानन्दरूपम्। अमृतम् = विनाशरहितम्। दिवि = स्वप्रकाशरूपे, विद्योतते स्वमहिम्नि स्वर्गे द्वारे व्याप्य तिष्ठति।

यद्वा—यद् योगिभिरात्मत्वेन ध्येयं ब्रह्म, तदेव त्रिपाद् दिवि सत्यसंकल्पादौ गुणे स्थितमित्यर्थः।

यद्वा—"अ, उ, म्" इत्योंकारमात्रात्रयं व्याहृतयः तिस्रो गायत्र्याः पादास्त्रयो वा अस्येति त्रिपाद् ॥ ३ ॥

उसका जो सर्वव्यापक स्वरूप है, वह तो व्यापक पदार्थों की सत्ता काल में ही ज्ञेय है। परन्तु जब पदार्थ नहीं तब व्यापक भी नहीं। अतः यह स्वरूप तो व्याप्याधीन है। व्याप्य के अदृश्य होने से उस व्यापक स्वरूप का भी अदृश्य होना अनिवार्य्य हो जाता है। उसका स्वरूप व्याप्य-व्यापक भावरहित किसी दिव्य प्रदेश में रहता है। वही स्वरूप पवित्र मन वाले उपासकों के एवं योगियों के मन में भासित होता रहता है।

उस परमेश्वर की सब व्यापकता तथा सब पदार्थों का और मोक्षलोक का एवं जीवशरीर का स्वामित्व कहा गया है। वह तो इस परमात्मा की महिमा मात्र है। परन्तु पुरुष तो इन पदार्थों से महान् है। इस परमेश्वर का पाद तीनों लोकों का पालन करने वाला है और समस्त भौतिक पदार्थों का भी रक्षक है। वह कभी भी अदृश्य होने वाला नहीं है। उसका दिव्यस्वरूप दिव्यलोक में है, एवं उपासकों के पवित्र हृदय में है।

अथवा—भूत, भविष्य, वर्तमानकाल से सम्बन्ध वाला यह जगज्जाल जितना है। यह सब विराट् पुरुष की महिमा विशेष है। यह सब ईश्वर के सामर्थ्य विशेष विभूति का विस्तार है। इस जगज्जाल से वह पुरुष अत्यन्त बृहत् है। उस जगदीश्वर का एक पाद अर्थात् चतुर्थांश में चराचरात्मक समस्त विश्व है। इस

परमात्मा का अवशिष्ट त्रिपात्स्वरूप विनाशरहित प्रकाशात्मक अपने स्वरूप में स्थित है।

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी लिखा है—

राम सच्चिदानन्द दिनेशा। नहिं तहं मोह निशा लवलेशा॥
सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहिं तहं पुनि विग्यान विहाना॥
(बा० दो० ११६ के ऊपर)

यद्यपि ब्रह्म की इयत्ता को कोई भी निरूपण नहीं कर सकता तो भी उसकी अपेक्षा यह जगत् अल्प है। इस कारण से पाद रूप से निरूपण किया गया है। यथार्थ में उसके चारों चरणों की कल्पना नहीं की जा सकती।

यह सब सूर्यचन्द्रादि, लोकलोकान्तर चराचर जगत् जितना है। यह सब चित्र-विचित्र रचना के अनुमान से ही व्यापक जगदीश्वर के महत्व को जानकर मनुष्य को उस परमात्मा राम की उपासना करनी चाहिये॥ ३॥

त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः॥
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि॥ ४॥

पूर्वार्धेन पूर्वोक्तमर्थं द्रढयति। त्रयाणां लोकानां पाता रक्षकः त्रिषु लोकेषु विद्यते गच्छति व्याप्तो भवति वा त्रिभिः सुरासुरमनुष्यैः पद्यते गम्यते प्राप्यते वा सः परमेश्वरः। ऊर्ध्वं वहिः प्रदेशे जगद्रूपे, उदैत् प्राकाश्यं गतः प्रकटी भूतः, इति भावः। जगद्दर्शनेनैव सहस्रशीर्षा सहस्राक्षवत्स्वरूपभावो गम्यते, इति ऊर्ध्वमित्युक्तम्। पुनरस्य = परमेश्वरस्य, पुरुषः = सर्वाघौघनिवारकः, पादः = चरणः, इह = मनस्युपासकानाम्, अभवत् = भवति। अस्माद्धेतोः त्रिपादूर्ध्वे प्रदेशे जगति प्रकाशते, ततः = तस्माद्, विष्वङ् = विषु सर्वत्राञ्चनशीलः सन्। साशनानशने अभि = चेतनमशनादिक्रिया अकुर्वाणम्, अचेतनम् अभिलक्ष्य, व्याप्नोति। चेतनाचेतनात्मके जगति त्रिपात्स्वरूपेण स व्यापकः। उपास्यस्वरूपेण तु इह हृदये शुद्धे मनस्येव स तिष्ठतीति भावः।

यद्वा—त्रिपाच्छब्देन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां ग्रहणं, तत उर्ध्वमुपरिभागे तुरीयायामुदैत्स्वोपलब्धिं प्राप्त इत्यर्थः। यद्वा—त्रिपाच्छब्देन वेदत्रयी संगृह्यते। तत ऊर्ध्वमित्यनेन यत्र सर्वेषां वेदानां प्रतिपादकतया एकीभावः। तस्मिन्धाम्नि स्वरूपे उपलब्धिं गतः।

अथवा—योऽयं त्रिपात्पुरुषः = संसारस्पर्शरहितो ब्रह्मस्वरूपोऽस्ति। ऋग्यजुःसामलक्षणो भगवानादित्यः। ऊर्ध्वः = उपरिष्टात्, उदैत् = उदितः सन्। अस्माद-

ज्ञानकार्यात्संसाराच्च बहिर्भूतो गुणदोषरहितः स्थितः अयं पुरुषः, त्रिपात्=त्र्यंशभूतः, ऊर्ध्वः=उपरि, उदैत्=उदितः, उत्कर्षेण स्थितवानित्यर्थः ।

यद्वा—कर्मबन्धनिबन्धनानां स्थावरजंगमादीनामुपरिभूत इत्यर्थः । अस्य पुरुषस्य पादः=चतुर्थांशो जगद्रूपोऽस्ति । इह=स्वमायायां पुनरभवत्=जगतः परमात्मलेशत्वमिति । "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (गीता १०-४२) अर्थात्—एकांशेन जगत् ससर्ज, पुनः सर्वप्रथमः, इह=जगति स्वयं प्रादुर्भवतीत्यर्थः । मायायामागत्य अनन्तरम् । विष्वङ्=विषु सर्वत्राञ्चति प्राप्नोतीत्यर्थः । देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः । साशनानशने=अशनेन भोजनेन सह वर्तमानं साशनं चेतनप्राणिजातम् । अनशनम्=भोजनरहितं गिरिनद्यादिकं जडसमुदायम्, ते=उभे प्रति, अभिलक्ष्य, व्यक्रामत्=स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

वह पुरुष तीनों लोकों का रक्षक जगद् रूप बहिर्प्रदेश में प्रकट होता है परन्तु उस परमेश्वर का पापनाशक चरण उपासकों के मनमें रहता है । इस कारण से सर्वत्रचेतन और अचेतन को लक्ष्य बना कर व्यापक होता है ।

अथवा—वही त्रिपात्स्वरूप पुरुष ऋग्यजुः साम लक्षण भगवान् आदित्य रूप से आकाश में उदित हो रहा है । अथवा—जो तीनपादयुक्त, संसार स्पर्श से रहित पूर्णब्रह्मस्वरूप पुरुष है, वह इस अज्ञान कार्य संसार से बहिर्भूत है । अर्थात्—वह इस संसार में रहकर भी इस संसार के गुण-दोषों से रहित ऊपर स्थित हुआ है (वह अपने तीन अंशों से स्वयं प्रकाशित होता हुआ भी सबसे ऊपर स्थित है) । अपने एक अंश से सब जगत् को उत्पन्न कर सर्वप्रथम स्वयं इस संसार में पुनः प्रकट होता है । इस माया में सृष्टि संहार द्वारा बारम्बार प्रादुर्भूत है । इस विषय में कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है—अंशन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउं दिनकर वंश उदारा (रामचरितमानस) । तदनन्तर माया में आ जाने के पश्चात् देव तिर्यग् आदि विविध रूप से व्याप्त होता है । पुनः चेतन और अचेतन दोनों को लक्ष्य लेकर सर्वत्र व्याप्त हुआ स्थित रहता है ॥ ४ ॥

ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः ।
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

एतावानस्य महिमा इत्युक्तं प्रपञ्चयतीति । ततः=तस्मादेव आदिपुरुषात्,

विराट्=निखिलब्रह्माण्डम्, अजायत=उत्पन्नः। विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते सः। अथवा—विविधानि वस्तूनि राजन्ते प्रकाशन्ते यत्र स विराड् ब्रह्माण्डदेह उच्यते। विराजो अधि=तस्मिन् विराजि ब्रह्माण्डे पुरुषो जीवात्मा कर्मानुसारेण परमेश्वरप्रेरितोऽजायत। विराडिति समष्टिस्तेन पुरुष इत्यत्र एकवचनम्। प्रतिदेह-मेकैकः पुरुषः प्रविष्ट इति वा ज्ञेयम्। यदा स जातः, स पुरुषः, उदपद्यत तदा पश्चात् विराडत्यरिच्यत, अधिकोऽभवत्। अधिक भवने हेतुमुपन्यस्यति। पुरुषे विराजं प्रविष्टे सति। पुरः पूर्यन्ते सप्तधातुभिर्जीवेन चेति शरीराण्यभवन्। चेष्टा-श्रयः शरीरम्। शरीराणामपेक्षिता भूमयोऽप्यभवन्। शरीरमन्तरेण जीवात्मनां प्रवेशो दुर्लभ इति शरीराणि संजातानि। शरीराणामवस्थिता या भूमयोऽपेक्षिता-स्ततस्ता अभवन्। पूर्वमव्यवस्थितं खलु ब्रह्माण्डमासीत्। शनैः शनैः निवास-योग्या भूम्यादयः संपन्ना इति भावः। ततः=अनन्तरं शरीराणि। ततः परं प्रति-शरीरं जीवप्रवेशोऽभवदिति तात्पर्य्यम्।

अथवा—अधि=ब्रह्माण्डदेहस्योपरि अधिष्ठाता, तमेव देहमधिकरणं कृत्वा, पुरुषः=तद्देहाभिमानी कश्चिदेक एव जीवोऽजायत।

("सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स एव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा, तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवदि-त्यर्थः" इति नृसिंहतापिनी २-९)।

अथवा—स एष ईश्वरः भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा, तत्र प्रविश्य अमूढः सन् मूढ इव व्यवहरन्नास्ते स्वमायया इति प्रविष्ट इव विहरतीति भावः। सः=विराट् पुरुषो जातः प्रादुर्भूतः सन्। अतिरिच्यत=अतिरिक्तोऽभूदिति। विराडतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूदित्यर्थः। भूमिं ससर्ज, पश्चादपि भूमावसक्तो भूत्वा सर्वभिन्नोऽभवदिति भावः। भूमिशब्दो देशोपलक्षणार्थम्। भूम्यादीन् लोकान्, पश्चात् पुरः=पुरस्ताच्च व्याप्य वर्तमानोऽस्ति। अथो=भूमि-सृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरोऽग्रे पूरयन्ते सप्तधातुभिरिति, पुरः=शरीराणि ससर्ज॥ ५॥

उसी परमेश्वर से समस्त जड ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। उस ब्रह्माण्ड में कर्मानुसार ईश्वरेच्छा से जीवों का आगमन हुआ। जीवों के लिए कर्मानुसार शरीर बनाये गये। उसके रहने के लिए भूमि व्यवस्थित की गई। यह भूतकाल का वर्णन है।

अथवा—उसके उपरान्त उस सनातन आदि पुरुष परमात्मा से ब्रह्माण्डदेह उत्पन्न हुआ। उस समष्टि विराट् देह के ऊपर देहाभिमानी जीवरूप होकर अधिष्ठित

हुआ (अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त से जानने योग्य परमात्मा अपनी माया से विराट् देह (ब्रह्माण्डदेह) की रचना कर, उसमें जीवरूप से प्रवेश करके, उसका अभिमानी देवतात्मा जीवरूप हुआ)।

वह विराट् पुरुष प्रकट होकर अतिरिक्त देवता मनुष्य तिर्यग आदि रूप से हुआ। उन जीवों के सात धातुओं से पूर्ण होने वाले शरीर की रचना की। अनन्तर भूमि आदि लोकों की रचना की। पश्चात् भूमि में आसक्त होकर पद्मकमल की तरह सबसे पृथक् हो गया ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्ज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्ण्या ग्राम्म्याश्च ये ॥ ६ ॥

तस्मात् = पूर्वोक्तात्, सर्वहुतः = सर्वात्मकः, सर्वैराहूयते आदीयते सः सर्वहुत् तस्मात्। अथवा—पुरुषः सर्वैर्हूयते यस्मिन् यज्ञे सः सर्वहुत् तस्मात् सर्वहुतः। मानसात् यज्ञात् = पूजनीयात् पुरुषात्, इज्यते पूज्यते आराध्यते सर्वैरिति यज्ञः परमात्मा तस्मादेवेत्यर्थः। पुरुषमेधाख्य यज्ञस्वरूपात् सर्वव्यापकात्पुरुषाच्चतुर्थपादाद् वा। पृषदाज्यम् = दधिमिश्रितमाज्यम्, संभृतम् = समुत्पन्नम्, दधिघृतादिभोग्यवस्तुसंपादितमित्यर्थः तथा सः पुरुषः वायव्यान्=वायुवद्गुणान् नभचारिपक्षिणः वायुदेवतानित्यर्थः। तान् = प्रसिद्धान् पशून् चक्रे = उत्पादितवान् ये अरण्याः = अरण्ये भवाः सिंहमृगादयः। ग्राम्याश्च = ग्रामे भवाः सामाजिकाः गवाश्वछागकुक्कुरादयः। तानपि पशून् चक्रे = उत्पादितवान् ॥ ६ ॥

सर्वहुत् = सबके द्वारा पूजनीय सर्वात्मक परमेश्वर अथवा—सबके द्वारा दी गई आहुति के आधारभूत मानस यज्ञात्मक परमेश्वर से सबके ग्रहण करने योग्य वस्तु, पृषत् = जल, दही, घी आदि भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति हुई। अर्थात्—उस मानस यज्ञ रूप सर्वहुत् परमात्मा ने ही सब कुछ उत्पन्न किया है। वायुवत् शरीर अर्थात्—वायु में विहरणशील पक्षी आदिकों को, जङ्गल में रहने वाले सिंह मृगादि पशुओं को और ग्राम में रहने वाले गौ, अश्व, बकरी, कुक्कुर (कुत्ता) आदि पशुओं को उसी सर्वहुत् परमेश्वर ने बनाया है।

विशेष :—सर्वात्मा पुरुष यज्ञ में आहूत (बुलाये गये) हुए, हवन द्वारा पूजे जाते हैं, उस मानस यज्ञ को सर्वहुत् कहते हैं। यहाँ दधि घृतादि भोग्य वस्तु से वृक्षों के रस विशेष जानें। पर्वत निवासी योगीजन, इन्हीं वृक्षों के पृषदाज्य

स्वरूप अन्न, जल, फलों को भोजन कर क्षुधा, तृष्णा, निवृत्त करते हैं। यहाँ दधि, घृत से उत्पन्न होने वाले जीवों के खाद्य पदार्थ सृष्टि समझें। उस सर्वहुत् यज्ञ पुरुष द्वारा दधिमिश्रित घृत सम्पादित हुआ। उससे ग्रामचारी, अरण्यचारी और नभचारी जीव उत्पन्न हुए। इस स्थल में यथार्थ कर्ता ब्रह्म राम को मानना चाहिये, ब्रह्मा से लेकर अस्मदादि पर्यन्त यथार्थ में कर्तृत्व नहीं हो सकते। इससे कहा जाता है कि उस परमात्मा से सब उत्पन्न हुए हैं। अतः उस जगदीश्वर राम की उपासना करनी चाहिये ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

तस्मादेव = सर्वोपास्यात् सर्वप्रलयकर्तुः परमेश्वरात् पूर्णपुरुषाद् वा। सर्वहुतः= सर्वे जुह्वति सर्वं समर्पयन्ति वा यस्मै, सर्वैर्हूयमानात् दीयमानात्। ऋचः= ऋग्वेदाः, सामानि = सामवेदाः, जज्ञिरे = उत्पन्नाः। तस्मात् = पुरुषमेधात्, छन्दांसि = गायत्र्यादीनि, जज्ञिरे = जातानि, उत्पन्नानीत्यर्थः। तस्मात् = पुरुषात्, यजुरपि, अजायत = जात इत्यर्थः। ऋग्यजुःसामभिः छन्दोभिश्च विना यज्ञाः नहि सिध्यन्तीति भावः ॥ ७ ॥

उस पूजनीय यज्ञ पुरुष परमेश्वर से, जिसके निमित्त सब मनुष्य सब पदार्थों को समर्पण करते हैं। ऋग्, साम, यजुः और अथर्ववेद एवं गायत्री छन्द भी उत्पन्न हुए हैं। अर्थात्—उस परमेश्वर रामके निःश्वास से चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। "यस्य निःश्वसितं वेदाः" इति श्रुतिः। इस विषय में कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—"जाके सहज श्वास श्रुति चारी" (रामचरितमानस बा० का० दो० २०३ के नीचे)। अतः उसकी उपासना करनी चाहिये ॥ ७ ॥

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥ ८ ॥

तस्मात् = परमेश्वरात्, यज्ञात् = पूजनीयात् सर्व यज्ञरूपपुरुषाद् वा। अश्वाः = हयाः, अजायन्त = उत्पन्नाः। ये, के, च = अश्वभिन्ना गर्दभादयः। उभयादतः = उभयोरूर्ध्वाधोभागयोर्दन्ताः सन्ति येषां तेऽपि। जज्ञिरे = उत्पन्नाः। तस्मात् गावः = धेनवः गाव इत्युपलक्षणमेकदन्तानाम्। ह = प्रसिद्धौ। तस्मात् = पुरुषात्। अजावयः = अजाः छागाः, अवयः मेषादयश्च ते। जाताः = उत्पन्नाः। उपर्युक्तकण्डिकात्रये। यत् किञ्चिद् हविरात्मकं विध्यर्थवादमंत्राश्रया वेदाश्च

पुरुषोत्तमात् पुरुषमेधयज्ञस्वरूपादेव सर्वं जातमिति भावः। अतः परमेश्वराज्ञा कदापि न उल्लङ्घनीया अपि च तं परमेश्वरमुपास्स्व इति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

उस पूजनीय परमात्मा पुरुष से घोड़े उत्पन्न हुए और जो कोई घोड़े से अतिरिक्त गदहे खच्चर आदि ऊपर-नीचे दाँतों वाले प्रसिद्ध हैं, वे सभी उसी परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। उस परमेश्वर से ही गाएँ तथा जिनके एक तरफ दाँत होते हैं, वे सभी और भेड़, बकरी इत्यादि उत्पन्न हुए हैं।

उसी सनातन पुरुष भगवान् से सब मनुष्य आदि उत्पन्न हुए हैं। अतः उसकी आज्ञा का कभी भी उल्लंघन न करे और उसकी उपासना करनी चाहिये ॥८॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

अग्रतः = प्राक् पुरुषम्, जातम् = प्रादुर्भूतम्, जगत्कर्तारम्। तं यज्ञम् = संपूजनीयं यज्ञसाधनभूतं पुरुषं भगवन्तं पशुत्वभावनया यूपे (हृदयरूपिस्तम्भे) बद्धम्। बर्हिषि = मानसज्ञानयज्ञे उपासकाः भक्तिजलेन। प्रौक्षन् = प्रकर्षेण औक्षन्, प्रोक्षितवन्तः (सिञ्चन्तः = स्थापितवन्तः)। मानसयज्ञं निष्पादितवन्तः। तेन = यज्ञपुरुषोपदिष्टेन वेदेन। साध्यन्ते आराध्यन्ते ये साध्याः = सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः। साधनं योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनोऽपि वा। देवाः = द्योतनशीलाः, निर्जराः, विद्वांसोऽपि वा। तदनुकूलाश्च, ऋषयः = मरीचिप्रभृतयः ब्रह्मवेत्तारः, मंत्रद्रष्टारश्च, अयजन्त = यागं कृतवन्तः।

अत्र कारणे कार्योपचारात् यज्ञेन यज्ञसाधनमभिधीयते। प्रौक्षन् ग्रहणं सकलसंस्कारोपलक्षणार्थम्। तथा च पुरुषं पृषदाज्यादिरूपं यज्ञसाधनभूतं प्रोक्षणादिसंस्कारैः संस्कृत्य पृषदाज्यादिरूपेण देवा उपासकाः यागं कृतवन्त इति वाक्यार्थः ॥ ९ ॥

सृष्टि के पूर्व (पहिले) जगत्कर्ता पुरुष रूप से प्रकट हुआ। उस पूजनीय यज्ञसाधनभूत पापनाशक परमात्मा को मानसरूपी ज्ञान यज्ञ में उपासकों ने भक्ति जल से स्नान कराया (प्रोक्षणादि = जलसिञ्चनादि संस्कार किया)। उसी पुरुष के वेदोपदेश द्वारा जो साध्यगण अर्थात् सृष्टिसाधन योग्य प्रजापति, देवगण अथवा—योगाभ्यासी ज्ञानी जन और मंत्रद्रष्टा मरीचि आदि ऋषिगण इन सबों ने यज्ञकर्म निष्पन्न किया अर्थात् ब्रह्मवेत्ता महर्षियों ने भी उस परमेश्वर की पूजा की।

अतः विद्वान् मनुष्यों को चाहिये कि कल्याणार्थ उस परमेश्वर राम का ध्यान, पूजन सदा करता रहें ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ऽउच्येते ॥ १० ॥

प्रतिशरीरं प्रविष्टेषु जीवेषु ग्राम्याणामारण्यानां पशूनां पक्षिणां च अद्यावधि उत्पत्तिः प्रतिपादिता। वेदोत्पत्तिक्रमोऽपि निरूपितः। वेदाधिकारिणामनिरूपित-वर्णानां मानवानां वर्णविवरीतुमुपक्रमे तेऋर्चा प्रश्नोत्तररूपेण—

यत्पुरुषं व्यदधुः = मनस्युपासका देवाः साध्याद्या उपासनार्थं तं ते, कतिधा = कतिभिः प्रकारैः। व्यकल्पयन् = विकल्पितवन्तो विविधं कल्पितवन्तः? कतिधा पदेन न पुरुषस्य प्रकारोऽन्विष्यते। पुरुषावयवकल्पनाप्रकार एव जिज्ञास्यते। हृदये स्थापितस्य पूजितस्य च परमेश्वरस्य लौकिकाकारविरहितस्य पूजार्थं लोके प्रसिद्धानां पादाद्यवयवानां काचित् कल्पना कृता न वा? कृता चेत्तर्हि सा कल्पना कतिधा इत्याशयः। कल्पनापेक्षितानामङ्गावयवानां स्पष्टप्रतिपत्तये नाम गृहीत्वा पृच्छति इति। अस्य = उपास्यस्य परमेश्वरस्य मुखं किं कल्पितमासीत्? बाहू किमास्तां बाह्वोः कल्पना कस्मिन् वस्तुनि कृता? किमूरू, ऊर्वोः कल्पनाया अधिष्ठानं किमासीत्? पादौ किमुच्येते, पादकल्पना कस्मिन् कृतेति चत्वारः प्रश्नाः सन्ति?

अथवा—देवाः = इन्द्रादयः, यस्मिन् यज्ञे, यत्पुरुषम् = विराड्रूपं परमात्मानम्। व्यदधुः = सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः। तद्वत् योगिनोऽपि आत्मयज्ञे पुरुषं यं जातम् अर्थात्—हृदये परमात्मानं स्थापितवन्त इत्यर्थः। अथवा—यत्पुरुषं व्यदधुः = विहितवन्तः उपस्थिताः कालाः कर्मफलदायिनः। तदा = तस्मिन्काले कतिधा कतिभिः प्रकारैः। व्यकल्पयन् = विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत्? कौ बाहू आस्ताम्? के ऊरू (जङ्घे) च अभूताम्? कौ च पादौ उच्येते? पादावपि किमास्तामित्यर्थः? ॥ १० ॥

उपासना के लिए किसी प्रकार के अङ्ग अवयव रूप आदि की प्राथमिक आवश्यकता रहती ही है। अतः अब उपासकों ने, देवों ने, साध्यों ने, महर्षियों ने उपासना के लिए सर्वव्यापक परमेश्वर को अपने-अपने मनमें स्थापित किया तो उसके अङ्गों, अवयवों की कल्पना कितने प्रकार से की गई, यह प्रश्न है? उसी प्रश्न को स्पष्ट करने के लिये इस मन्त्र का उत्तरार्ध है।

उस उपास्य परमात्मा का मुख किसे माना गया था? बाहु किसे माना गया था? जंघा किसे माना गया था? और चरण किसे माना गया था? दर्शन के लिए

मुख चाहिये। रक्षण के लिए हाथ चाहिये। गमन के लिए जाँघ और पैर चाहिये। उपासक के लिए भगवच्छरीर में इतने अवयव मुख्य हैं। अतः इन अवयवों की कल्पना का प्रश्न यहाँ उपस्थित हुआ है।

विशेष—पहिले सामान्य प्रश्न और मुख आदि की विशेष प्रशंसा है। अर्थात्—देवगण सृष्टि के निमित्त मानस याग विस्तार करके, जिस समय निज अमोघ सङ्कल्प द्वारा विराट् पुरुष का प्रादुर्भाव किया, उस समय यह विराट् कितने प्रकार से पूर्ण हुआ। क्या पदार्थ ? उसका मुख, बाहु, ऊरु (जाँघ) और चरण हुआ। तात्पर्य यह है कि ऋषियों ने मानस याग से सूक्ष्म दृष्टि से परब्रह्म भगवान् राम के मुख, बाहु, अङ्गों का अवलोकन किया। इस विषय में कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी दर्शाया है "अरुण नयन उर बाहु विशाला। नील जलज तनु श्याम तमाला" (रामचरितमानस बा० का० दो० २०८ के नीचे)। और उसमें ब्राह्मणादि जाति का दर्शन किया ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽअजायत ॥ ११ ॥

"ब्राह्मण" इति पूर्वं कण्डिकायां स्तुत्यर्थं विकल्पः कृतः। आकांक्षा उत्थापनाय अत्र स्तुतिमाह—

ब्राह्मणः=ब्राह्मणजातिविशिष्टमनुष्यः, वेदेश्वरयोर्विदनयोः सेवक उपासको वा इत्यर्थः। अस्य=ईश्वरस्य, मुखम्=आस्यमिवोत्तमः, आसीत्=मुखात्प्रादुर्भूत इत्यर्थः। बाहू=भुजाविव बलवीर्यपराक्रमयुक्तः। राजन्यः=क्षत्रियः, कृतः= निष्पन्नः, बाहुत्वेन निष्पादित इत्यर्थः। अस्य=परमेश्वरस्य तत्=ते, ऊरू=जङ्घे, यद्वैश्यः=यत्र तत्र विशति प्रविशति तदपत्यं वैश्यः। तद्रूपः सम्पन्नः, ऊरुभ्यां जङ्घाभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। पद्भ्याम्=पादाभ्यां सेवानिरभिमानाभ्यां, शूद्रः= मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यः। अजायत=समुत्पन्नः। अयमेव ब्राह्मणादिचतुष्टयरूप इति वाक्यार्थः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्त दशवें मंत्र को 'ब्राह्मण' ऐसा कहकर स्तुत्यर्थ विकल्प से किया गया है, अब आकांक्षा उत्पन्न करने के लिये कहते हैं—

जो ब्राह्मण जाति विशिष्ट मनुष्य शम, दम, तितीक्षा, आदि से युक्त उत्तम गुणों वाले, वेद और ईश्वर को जानने वाले ब्राह्मण हैं। वे भगवान् के मुख से प्रकट हुए हैं। जो क्षत्रिय जाति विशिष्ट अधिक पराक्रमशाली भुजाओं के तुल्य कार्यों को सिद्ध करने वाले हैं, वे क्षत्रिय उस ईश्वर की भुजाओं से प्रादुर्भूत हुए हैं।

जो वैश्य जाति विशिष्ट सर्वत्र प्रवेश करने वाले व्यवहार विद्या में प्रवीण हों, वे वैश्य परमात्मा की जांघ से उत्पन्न हुए हैं। जो शूद्र जाति विशिष्ट निरभिमान विद्याहीन हैं, वे उन प्रजापति के चरण से उत्पन्न हुए हैं।

यहाँ मंत्रों में जो कल्पना और उत्पन्न होना दो शब्द आये हैं, वे इस कारण से हैं—पुरुष मेध में सब जाति के पुरुष बैठे हुए हैं। उनको विराट् रूप से मानना कल्पना अर्थ है। और सृष्टि पक्ष में उत्पन्न अर्थ है॥

विशेष—भगवान् श्रीरामजी को श्रुति 'द्वि बाहू' कहती है—"बाहूराजन्यः" इत्यादि को बाहू शब्द में द्विवचन ग्रहण है। 'बाहवः राजन्य;' क्यों नहीं कहती? चार छः आठ भुजा को श्रुति नहीं कहती "द्विभुजः कुण्डलीरत्नमाली धीरो धनुर्धरः"। (रामतापिन्युपनिषदि) द्विभुज ही कहा है।

राघवं द्विभुजं वालं राममीषत्स्मिताननम्।
स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्॥
परन्तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत् त्रयं यजेत्।
द्विहस्तमेकवक्त्रं च शुद्धस्फटिकसन्निभम्॥
सहस्रकोटिवह्नीन्दु-लक्षकोव्यर्कसन्निभम्।
मरीचिमण्डले संस्थं चक्राद्यायुधलाञ्छितम्॥
किरीटहारकेयूर-वनमालाविराजितम्।
पीताम्बरधरं सौम्यं रूपमाद्यमिदं हरेः॥

(इति नारदपंचरात्रग्रन्थे)

इन श्लोकों में प्रथम द्विभुज का वर्णन है। पुनः 'द्विहस्त' आदि रूप कहा, अत एव आदि पररूप, द्विभुज श्रीराम नित्य हैं बालस्वरूप हैं॥ ११॥

(भावप्रकाशिका टीका सहित श्रीरामस्तवराज)

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ १२॥

अस्य=सर्वेश्वरस्य मनसो यथा—दध्याज्यादिद्रव्याणि, गवादयः, पशवः, ऋगादिवेदाः ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेव समुत्पन्ना इत्याह—अस्य=परमेश्वरस्य, मनसः=चेतसः चन्द्रमाः, अजायत=जातः, अकल्पयत। ज्योतिःस्वरूपाच्चक्षोः=नेत्राभ्याम्, सूर्यः=रविः, अजायत=प्रादुर्भूतः। श्रोत्राद्=कर्णात्, वायुः=पवनः, प्राणश्च=जीवः,

अजायत = प्रकटीभवति स्म। तस्य मुखाद्=आस्याद्, अग्निः=पावकः, अजायत = समुत्पन्न इत्यर्थः।

अन्यत्र चन्द्रमस्सूर्यौ च बाहुभ्यो मनश्चक्षुःश्रोत्रेभ्य इति चन्द्रमस्-प्रभृतीनामुत्पत्तिरिति सृष्टिक्रमः। अत्र तु अचिन्त्यमहिम्नि पुरुषे मनश्चक्षुः-श्रोत्रमुखेभ्यश्चन्द्रप्रभृतीनामुत्पत्तिक्रम इति विपरीतोऽर्थः स्तुतिरिति वाक्यार्थः ॥१२॥

जैसे—परमात्मा से दधि घृतादि द्रव्य, गायें, पशुयें, ऋगादिवेद, ब्राह्मणादि मनुष्य उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही उस परब्रह्म के मनसे (सङ्कल्प से) चन्द्रमादि देवगण प्रकट हुए हैं। उसके चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु और प्राण (जीव) प्रादुर्भूत हुए हैं और मुख से अग्नि प्रकट हुई हैं।

विशेष—'चन्द्रमा मनसो' इत्यादि मन्त्र का विशिष्टतया ब्राह्मण उपदेष्टा होता है, ज्ञान प्रदान करता है। मुख में सभी ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है। अतः ब्राह्मण को मुख बताया गया है। रक्षाकार्य हाथ से होता है। क्षत्रिय राजा होने से प्रजा का संरक्षण करता ही रहता है। अतः क्षत्रिय को हाथ बताया गया। गमनागमन क्रिया जांघ और पैर से ही होती रहती है, अतः वैश्य व्यापारादि के निमित्त गमनागमन करता रहता है। इसलिये एक को जंघा और दूसरे को पैर बताया गया है। उस परमेश्वर का मन शान्त रहता है। चन्द्रमा शीतल है। अतः चन्द्रमा को मन बताया गया है। चक्षु से पदार्थों का दर्शन होता रहता है प्रकाश के बिना चक्षु निरर्थक है। सूर्य समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। अतः उसे नेत्र बताया गया है। यदि वायु की लहरियाँ उच्चरित शब्द समूह को गति न दें तो श्रोत्र किसी शब्द को सुन नहीं सकता, अतः वायु को श्रोत्र बताया गया। प्राणवायु नासिका से ही अपनी गति करता रहता है, अतः वायु को प्राण बता दिया है। अग्नि प्रकाशनवान् वस्तु है। मुख भी प्रकाशित ही शोभा पाता है मनहूस मुख शोभा नहीं देता, अतः अग्नि को मुख बता दिया गया है ॥ १२ ॥

नाभ्या॑ऽ आसीद॒न्तरि॑क्षꣳ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ऽअ॑कल्पयन् ॥१३॥

यथा—अस्य सनातनपुरुषस्य = मनःप्रभृतींश्चन्द्रादीनकल्पयन् तथैव = अन्त-रिक्षादिलोकानाह—नाभ्या = नाभेः सकाशाद् अवकाशमयान्मध्यवर्ति, आकाशम्।

आसीत् = समुत्पन्नम् । शीर्ष्णः = शिरसः शिर इव उत्तमसामर्थ्यात् । द्यौः = प्रकाशयुक्ता द्यौर्लोकः स्वर्ग इत्यर्थः । समवर्तत = समुत्पन्नः । पद्भ्याम्=पादाभ्यां पृथिवीकारणरूपसामर्थ्यात् । भूमिः = पृथिवी, श्रोत्रात् = कर्णादवकाशमयात्, दिशः = पूर्वादयो दिश उत्पन्नाः । तथा=तेन प्रकारेण तस्मादेव = पुरुषात्सर्वान् लोकान्, लोक्यन्ते अवगम्यन्ते पदार्थाः यैः तान् अन्तरिक्षादीन् भूरादीन् लोकान् । अकल्पयन् = कल्पितवन्तः । देवा उत्पादितवन्तः । देवमनुष्यादि निखिलस्थावरजङ्गमादि त्रैलोक्यमकल्पयन्नित्यर्थः । फलदानोत्सुकाः काला इति शेषः ॥ १३ ॥

जैसे—सनातन पुरुष के मनसे चन्द्रमा आदि की कल्पना की गई है, से ही अन्तरिक्ष आदि लोकों को कहते हैं—इस परमेश्वर की नाभि से आकाश की कल्पना हुई । शिर से स्वर्ग प्रकट हुआ, चरण से पृथिवी उत्पन्न हुई । श्रोत्र से सब दिशायें उत्पन्न हुईं । उसी प्रकार भूरादि लोकों की, इस विराट् देह से कल्पना हुई ।

विशेष—अन्य अवयवों की कल्पना इस मन्त्र में बताई गई है । नाभि मध्य देश में स्थित है । अन्तरिक्ष भी मध्य प्रदेश में है, अतः अन्तरिक्ष को नाभि बताया गया । शिर ऊपर रहता है । द्युलोक भी ऊपर है । अतः द्युलोक को परमेश्वर का शिर बताया गया । भूमि नीचे है, गमनागमन पैर उसी पर करता रहता है । इस सम्बन्ध को लेकर भूमि को भी पैर बता दिया गया । शब्द दिशाओं में ही होते हैं और श्रोत्रेन्द्रिय का देवता भी दिक् है अतः दिशाओं को श्रोत्र बता दिया गया । इसी प्रकार उपासकों ने भगवान् के अङ्गों की कल्पना की । लोकान् = शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ है । जिससे पदार्थ विज्ञान होते हों उन्हें लोक कहते हैं । क्योंकि इन्द्रियों से ही पदार्थ विज्ञान होता है, अतः लोक शब्द का अर्थ यहाँ पर इन्द्रिय है । परन्तु लक्षणा से सब अवयवों को कहा गया है ॥ १३ ॥

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।
व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्मऽइ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ १४ ॥

यथा—पूर्वोक्तप्रकारेण (नवममन्त्रे) देवशरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु, सृष्ट्यादौ देवाः साध्याः ऋषयश्च, मानसिकीं मनःसङ्कल्पितां पूजां परमेश्वरस्य साधितवन्तः तथैव यज्ञप्रिया देवादय अग्रे सृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात्, पुरुषरूपमेव परमात्मानं मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य मानसिकमेव यज्ञं अतन्वत कृतवन्त इत्यर्थ इत्याह—

यत्=यदा यस्मिन्समये, देवाः=इन्द्रादयः। पुरुषेण=पुरुषरूपेण परमात्मना परमेश्वरेण। अत्र निमित्तार्थे तृतीया विद्यया वसतीतिवत्। पुरुषप्राप्त्यर्थं। हविषा=मनसा मन एव हविष्ट्वेन कल्पयित्वा यज्ञमुपासनारूपमखम्। अतन्वत=विस्तारितवन्तः। तदा=तदानीम्। अस्य=यज्ञस्योपासकस्यापेक्षितम्। आज्यम्=घृतम्। वसन्तः=ऋतुरेव, आसीत्=अभूत्। यथा—घृतमग्नौ प्रक्षिप्तं चतस्रो दिशः प्रकाशयति तथैव वसन्तऋतुरपि बहुविधानां पुष्पाणां जन्मप्रदानेन दिगन्तराणि प्रकाशयतीति तात्पर्यम्। ग्रीष्मः=उष्ण ऋतुरेव। इध्मः=समिद् इन्धनविशेषः काष्ठमासीत्। यथा—दह्यमानं काष्ठमुष्णत्वं संपादयति। तथैव उष्ण ऋतुरपि सर्वांस्तापयति। इदमेव ग्रीष्मस्य इध्मत्वकल्पने बीजम्। शरच्च हविरासीत्। यथा—शरद् ऋतुः सर्वान्सुखयति। तथैव हविरपि यज्ञानले प्रक्षिप्तम्। प्राक् सृष्ट्यादौ हविराज्येध्मादीनामभावाद् वसन्तादिष्वेव तत्त्वं परिकल्प्य यज्ञ-धर्मनिर्वाह इत्यपि सूचितम्। पूर्वं पुरुषस्य परमेश्वरस्य हविःसामान्यरूपत्वेन संकल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति ज्ञातव्यम्। अथवा वसन्तशब्देन सात्त्विको गुण उच्यते। ग्रीष्मशब्देन राजसः कथ्यते। शरच्छब्देन तामसः। त्रीन् गुणान् हि तत्रात्मयज्ञे योगिनो जुह्वतीति भावः ॥ १४ ॥

जैसे—पूर्वोक्त नवमें मन्त्र में देव शरीर उत्पन्न होने पर, सृष्टि के आदि में ब्रह्मा आदि देवताओं ने सृष्टि बनाने के लिये बाह्यद्रव्य उत्पन्न न होने के कारण ही पुरुषरूप हवि द्वारा मानसिक यज्ञ का संकल्प किया अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के लिये उपासकों ने मन से उपासना रूप यज्ञ का आरम्भ किया। वह मानसिक यज्ञ था। अतः मानसिक ही यज्ञीय पदार्थ भी होने चाहिये। मानस यज्ञ के लिये उस समय वसन्त ऋतु ही घृत हुआ, ग्रीष्म ऋतु समिध् (इन्धन)। और शरद् ऋतु हवि हुई। इस प्रकार प्रथम परमात्मा को सामान्य रूप से संकल्प करके तुरन्त ही वसन्तादि की आज्य विशेष रूप से कल्पना हुई। अथवा वसन्त शब्द से सात्त्विक गुण, ग्रीष्म शब्द से राजस गुण, शरद् शब्द से तामस गुण कहे गये हैं। इन तीनों गुणों को ही विद्वद् योगिजन आत्मज्ञान रूप यज्ञ में हवन करते हैं।

विशेष—यहाँ पुरुष को अर्थात् मानवीय श्रद्धा को 'हविस्', कर्मों को यज्ञ, वसन्त को घी, ग्रीष्म को समिधा, शरद् ऋतु को हवि कहा गया है। तीनों ऋतुओं के नाम लेने से जिस देश में जितने ऋतु माने जाते हों उन सब का ग्रहण कर यह भाव समझना चाहिये कि सब ऋतुओं में उपासकों ने इस प्रकार से अवयवों की कल्पना करके परमेश्वर की उपासना की थी। उपासना के लिये तत्पर निरन्तर होना चाहिये। उसमें कोई देश और काल बाधक नहीं होता ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ॥
देवा यद्यज्ञन्तन्वाना ऽअबध्नन्पुरुषम्पशुम् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तचतुर्दशमंत्रेऽत्राप्यवधार्य्यः। अस्य = मानसिकयज्ञस्य सप्त गायत्र्यादीनि छन्दांसि, सप्त उपच्छन्दांसि, सप्त व्याहृतयश्च वा। परिधयः = मर्यादाः आसन् = अभवन्। यज्ञरक्षार्थमभितः सप्त परिधयः क्रियन्ते। ऐष्टिकस्य आहवनीयस्य त्रयः परिधयः, औत्तरवेदिकाश्च त्रयः, आदित्यश्च सप्तपरिधिः। प्रतिनिधिरूपा आसन्नित्यर्थः। मानसिकयज्ञे छन्दसामेव परिधित्वकल्पनम्। त्रिःसप्तः = त्रिगुणिताः सप्तसंख्याका एकविंशतिः समिधः, कृताः = कल्पिताः। काश्च ताः? द्वादश मासाः, पञ्च ऋतवः, त्रयो लोकाः, असावादित्यश्चेति। एते एकविंशतिः पदार्थाः। गायत्र्यादिच्छन्द उच्चारणपूर्वकं सर्वेषु मासेषु, सर्वेषु ऋतुषु त्रिषु च लोकेष्वादित्योदयसमये देवा मानसिकं यज्ञं कृतवन्त इत्यर्थः।

ननु कीदृक् मानसिको नाम यज्ञः? एतद्देवताक एतत्फलसमर्पक एतादृशो यज्ञो मया क्रियते। इति संकल्प्य सर्वा एव क्रियाः काल्पनिक्य एव क्रियन्ते। अयं मण्डपः, इयं वेदी, इदं दधि, इदमाज्यं, एते परिधयः। अयं यजमानः, अयं च ब्रह्मा इत्यादिरीत्या सर्वं प्रकल्प्य देवानां तृप्त्यर्थं मानसिक्य एवाहुतयोऽपि निष्पाद्याः। यद्वा—अस्य = यज्ञपुरुषस्य, परिधयः = भूमिवेष्टनानि मेखला इत्यर्थः। सप्तसागरा आसन् = बभूवुः। अत्र सप्तेति संख्यामात्रं श्रूयते, न तु संख्येये कल्प्यमाने यज्ञभूमिवेष्टकं कल्पनीयं, यज्ञभूमिश्च भारतवर्षम्।

अथवा—आत्मयोगे परिधिशब्देन पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं मनोबुद्धिरित्येते परिधयः, मर्यादां कल्प्यन्ते। त्रिःसप्त समिधः पञ्च महाभूतानि पृथिव्यादीनि पञ्च तन्मात्राणि रूपादीनि। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनश्च। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पाण्यादीनि, एताः त्रिःसप्त समिधः कल्पयन्ति। दीपनादिति देवाः देदीप्यमाना विद्वांसः ज्ञानेन योगिनोऽपि, इत्यर्थः। समाध्याख्यं यज्ञं तन्वाना विस्तारयन्तः।

अथवा—स श्राद्धं कृतोऽयमुपासना यज्ञश्चेतःशुद्ध्यर्थं कल्पते। यदा = यस्मिन्काले, देवाः = इन्द्रादयः। यज्ञम् = मानसयज्ञं, तन्वानाः = कुर्वाणाः। तदा = तदानीं पशुं समानं पश्यतीति पशुः सर्वत्र समदर्शिनं पुरुषं परमात्मानं, अबध्नन् = बद्धवन्तः। विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। मानसिकयज्ञसेवया परमेश्वरं कृपापरवशमकुर्वन्। मानसिकयज्ञेनापि परमात्मा प्रसीदतीत्यर्थः तात्पर्यम् ॥ १५ ॥

मानसिक उपासना के लिये भी स्तोत्र तो चाहिये ही। इस लिये सप्त छन्दों में सुन्दर-सुन्दर स्तोत्रों द्वारा ही वे उपास्य देव की स्तुति करते थे। याज्ञिकों ने यज्ञ संरक्षार्थ यज्ञ में परिधि की कल्पना की है।

इस कल्पित यज्ञ की सात गायत्री, २४ अक्षर की गायत्री छन्द । २८ अक्षर का उष्णिक् । ३२ अक्षर का अनुष्टुप् । ३६ अक्षर का बृहती । ४० अक्षर की पंक्ति । ४४ अक्षर का त्रिष्टुप् । ४८ अक्षर का जगती । ये सातों छन्द परिधि मर्यादाएँ हुईं । ऐष्टिक आवाहनीय की तीन, उत्तर वेदी की तीन, एक आदित्य ये सात परिधि प्रतिनिधि रूप हैं। एक्कीस समिधाएँ याग में होती हैं । इस उपासना रूप यज्ञ में १२ महीने, ५ ऋतु, तीन लोक और आदित्य के रूप में कल्पित हैं (बारहमास हवन करने से अधिक मास प्राप्त किया । पाँच ऋतु त्यागने से वसन्त ऋतु छठा प्राप्त हुआ । भूर्भुवः स्वः त्रिलोक का हवन करने से भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्य ये सात लोक प्राप्त किये)। सब महीनों को, सब ऋतुओं को, सब लोकों को और सूर्य शब्द से दिन रात्रि का ग्रहण करके अहर्निश सब उपासक उपासना यज्ञ में होम करते थे ।

अथवा—सात क्षीरादि समुद्र यज्ञ की परिधि (मेखला) हुईं । कारण की भारत खण्ड में यज्ञ होता है इन सब को देवतागण प्राप्त किये ।

अथवा—प्रकृति महतत्त्व अहंकार स्थूल पञ्चमहाभूत, सूक्ष्ममहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और सत्त्व रज तम इन तीन गुणों को सामग्रीरूप करके योगिजन हवन करते थे ।

अथवा—जिस समय इन्द्रादि देवताओं ने मानस यज्ञ करना आरम्भ किया । उस समय विराट् पुरुष को पशु रूप से भावित किया अर्थात्—अपने हृदय में बाँध लिया । तात्पर्य यह है कि उपासकों का सब समय ईश्वरोपासना में ही व्यतीत होता था । इस प्रकार के यज्ञ से विद्वान् उपासकों ने समदर्शी परमात्मा का अपने हृदय में साक्षात्कार किया । यहाँ पशु शब्द का अर्थ—चराचर जगत् विराट् पुरुष का है ॥ १५ ॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्म्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ॥
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१६॥

यज्ञेनेति नारायणऋषिः । यज्ञपुरुषो देवता । उष्णिक् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

इदानीं साध्यानामुपासकानां यज्ञफलमुच्यते । यज्ञाद् वै तं पुरुषं च साध्याः = साध्यन्ते आराध्यन्ते उपास्यन्ते, इति ये ते उपासका इत्यर्थः । देवाः = इन्द्रादि प्रभृतयो विद्वांसः । ऋषयश्च = मरीचिप्रभृतयः । यज्ञेनैव = यज्ञसाधनभूतसामग्र्या

मानसेन संकल्पेनैव हविष्ट्वेन। यज्ञम् = यजनीयं पूजनीयं परमात्मानं पुरुषं = पुरुषोत्तमं राममित्यर्थः। अयजन्त = पूजितवन्तो ध्यातवन्त इत्यर्थः।

तस्मात्पूजनात्, तानि = यजनपूजनादीनि। प्रथमानि = मुख्यानि। धर्माणि = शुद्धान्तःकरणानि, तत्परमात्मनं दर्शनमासन्। अथवा—तानि प्रथमानि=प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपकाराणां धारकाणि पञ्चतत्त्वानि मुख्यानि आसन्। अथवा—सर्वाण्यपि प्रेयःश्रेयःसाधनानि प्रथमानि = अनादिकालमुख्यानि श्रेष्ठानि, धर्माणि आसन् = अभूवन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः। उक्तः=संगृहीत इत्यर्थः।

उपासनात्तत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते–ते=यज्ञानुष्ठातारो यजमाना उपासका इत्यर्थः। महिमानः=माहात्म्ययुक्ताः सन्ति। नाकम्=कम् = सुखम्, अकम् = दुःखं तन्नास्ति किञ्चिद् दुःखं यत्र सः तं नाकम्। यत्र नाके = स्वर्गे पूर्वे साध्याः देवगणाः साधकाः देदीप्यमानाः, सन्ति = वर्तन्ते तिष्ठन्तीत्यर्थः। तं नाकं = पुण्यकृतम् पुरातनं स्वर्गमित्यर्थः। ह = निश्चयेन। सचन्ते = प्राप्नुवन्ति। सृष्टेः प्रवाहनित्यतां दर्शयतीति। तदुक्तम्—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदिति" श्रुतिः।

एवं योगिनोऽपि दीपनादिति देवाः। यज्ञेन समाधिना पुरुषोत्तमं सर्वेश्वरं भगवन्तं श्रीरामं, अयजन्त = ध्यातवन्तः पूजितवन्तः। यतः तानि समाधिरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्! ये तु योगिनो महिमानः = जन्मजन्मान्तरपुण्यैर्निधूतगुणाः शुद्धाः ते उपासकाः महात्मानः पुराणपुरुषपरमात्मानं श्रीरामं आविशन्ति। अर्थात्—मुक्तिं प्राप्नुवन्ति, इति तात्पर्यम्। इदं पुरुषसूक्तं साकल्येन उपासनायाः प्रतिपादकमस्ति॥ १॥

इस मन्त्र में साधकों के यज्ञ फल का कथन है। जिस समय साध्य उपासक इन्द्रादि देवगण एवं मरीचि आदि ऋषिगणों ने मानसिक यज्ञ के द्वारा पूजनीय यज्ञ पुरुष पुरुषोत्तम सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम जी का पूजन किया। उस समय पूजनादिक धर्म मुख्यरूप से हुआ। इतना सृष्टि प्रतिपादिक सूक्त भाग है।

आगे उपासना फलानुवादक अंश है—वे महामहिमन्शाली यजमान उपासक जनों ने यज्ञ के द्वारा ही पुण्यकृत पुरातन स्वर्ग को प्राप्त किया। इसी उपासना से उपासकों की मुक्ति भी हुई। सृष्टि के पूर्व (पहिले से) ही उपासक देवगण भी अमृत लोक में विराजमान थे।

योगिजन ने भी समाधि द्वारा पुराण पुरुष (पुरुषोत्तम) को प्राप्त किया। अतः उनकी समाधि भी प्रथम धर्म ही था। उन योगियों की इतनी ही महिमा—जन्म-जन्मान्तर से शुद्ध गुणयुक्त होकर पुराण पुरुषोत्तम राम रूप मुक्ति को प्राप्त करते थे। इससे यह सृष्टि का प्रवाह नित्य दिखाया गया। जैसे श्रुति में है—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्"

इस प्रकार से यह पुरुषसूक्त साकल्येन (सम्पूर्णता से) उपासना का ही प्रतिपादक है। इसके अर्थ को हृदयङ्गम करके ही जो मानसिक उपासना करेंगे, वे हीन दीन जन भगवद् भागवत पादारविन्द रसिक उपासक अकरुण करुणावरुणालय परमात्मा परमेश्वर राम को प्राप्त कर लेंगे ॥ १६ ॥

धर्म के विषय में विशेषता—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमनुवदन्ति धर्मे, सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥
धर्मेण हन्यते व्याधिः धर्मेण हन्यते ग्रहाः ।
धर्मेण हन्यते शत्रुः यतो धर्मस्ततो जयः ॥

धर्म जगत् को धारण करता है। अन्यथा सृष्टि लोप होने की संभावना होती है। अर्थात्— जगत् की जो प्रतिष्ठा (आश्रय) है, उसको ही धर्म कहा जाता है। धर्मिष्ठ पुरुष ही सब साधारण जनता के उपजीवन स्वरूप हैं। क्योंकि प्रजा धर्मात्मा पुरुष के पास ही जाती है। धर्म से पाप दूर होता है। सब कुछ धर्म में ही स्थापित होते हैं। इसलिये विद्वद्जन धर्म को ही परम उत्कृष्ट कहते हैं।

उत्कृष्ट की विशेषता—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" जिस आचरण के द्वारा मनुष्य को अभ्युदय (उन्नति) तथा निःश्रेयस (कल्याण) की प्राप्ति होती है उसका नाम धर्म है। "धर्मो रक्षति रक्षितः" अतः धर्म की ही रक्षा करने से मनुष्य स्वयं सुरक्षित रहता है।

धर्म से व्याधि, एवं सब ग्रह शान्त होते हैं और शत्रु नष्ट होते हैं। अतः जहाँ धर्म होता है वहीं विजय होता है।

इस विषय में कवि सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है—

प्रकट चारि पद धर्म के कलि महँ एक प्रधान ।
जेन केन विधि दीन्हे दान करे कल्यान ॥

(रामचरितमानस उ० का० दो०)

इति पुरुषसूक्तम् समाप्तम् ।

(२) अथोत्तरनारायणीयम्

अद्भ्य इत्यस्य नारायण ऋषिः। आदित्यो देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ॥
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १ ॥

पूर्वकालान्तरे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपमापन्नः परापरकोटिसञ्चारी स्तूयते—यः त्वष्टा = आदित्यः सूर्य इत्यर्थः। अद्भ्यः = जलात् पृथिव्या रसादपि, अग्रे संभृतः=बभूव। पृथिवीशब्दोऽत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। अत्र पृथिवीपदग्रहणं पञ्चभूतोपलक्षणार्थम्। तेन पञ्चभूतोत्पत्तिपूर्वकाल एव संभृतः पुष्ट इत्यर्थः। न केवलं पञ्चभूतेभ्य एव पूर्वं संभृतः। अपितु विश्वकर्मणः = विश्वं सर्वं कर्म यस्य विश्वकर्मा तस्मात्। ज्ञानकर्मसमुच्चयजनितफलविपाकभूताद् रसाच्च अग्रेप्रथमं यः संभृतः सन् समवर्तत= समभवत्। यदा विश्वकर्मणो जगन्निर्माणेच्छाभूत्तदैव मर्त्यस्य मर्त्ये भुवने जातस्य तस्य रसस्य रूपं विदधत् = धारयत् समवर्तत।

अथवा—तदेव मर्त्यस्य = मनुष्यस्य मनुष्याणां सृष्टितोऽपि, अग्रे = पूर्वं, आजानम् = मुख्यं प्रधानं प्रभुत्वं देवत्वरूपं, विदधत्=विशेषेण धारयत्। एति = प्रत्यहमुदयं गच्छति। देवानां पालनाय दानवानां विनाशाय चेति भावः। द्विविधाः—देवाः कर्मदेवा आजानदेवाश्च। उत्कृष्टेन कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्नाः प्रधानदेवा आजानदेवा इत्यर्थः॥ १॥

पूर्वकाल में पुरुषमेध यज्ञ करने वाला आदित्य रूप को प्राप्त हुआ, परापर कोटि संचारी पुरुष की स्तुति की जाती है।

जो त्वष्टा प्रत्यक्ष दृश्यमान आदित्य पुरुष पृथ्वी जल आदि पञ्च महाभूतों एवं समस्त जगत् के सार रस से भी पहिले परिपुष्ट होकर प्रादुर्भूत हुआ है और जो विश्वकर्मा के कर्म उपासना समुच्चय अनुष्ठान के परिणामभूत जगत् रचना रूपी रसों से भी प्रथम ही उत्पन्न हुआ है। वही समस्त भुवन से पहिले सूर्यरूप से मुख्य देवत्व को धारण कर प्रतिदिन उदय को प्राप्त होता है।

देवता दो प्रकार के होते हैं। आजान देवता और कर्मदेवता। सृष्टि के आदि में उत्पन्न प्रधान देवता को "आजानदेवता" कहते हैं। उत्कृष्टकर्म से देवत्व को प्राप्त हुए "कर्मदेव" कहे जाते हैं। कर्मदेव से सौगुना अधिक आनन्द "आजानदेव" को होता है।

जो संपूर्ण कर्म करनेवाला परमेश्वर कारण से कार्य को बनाता है। सब जगत् के रूपों को बनाता है। उसको जानो और उसकी आज्ञा का पालन ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। अतः उस जगदीश्वर की उपासना करनी चाहिये।

विशेषता—पृथिवी आदि सृष्टि के निमित्त उसके द्वारा रस हुआ। "रसो वै सः ब्रह्मैव रसः" वही रस सब जगत् का जीवन स्वरूप है। उसीसे ही यह समस्त जगत् जो आगे भी वर्तमान था, उसकी सृष्टि हुई। तदनन्तर इस जगत् के विधानार्थ त्वष्टा (सूर्य) की सृष्टि हुई। उन्होंने इस मर्त्य भुवन में कर्म देवत्व को प्रकट किया।

मुक्त पक्ष में पुरुष मेधयाजी के कर्म फलरूप रस प्रकट होता है। वह कर्मफल देनेवाला यह सूर्य है। वह पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम सूर्य रूप में गमनकर आदित्य रूप को प्राप्त होते हैं। यही मुक्ति का मार्ग है। सो अगले मन्त्र में कहेंगे ॥ १ ॥

वेदाहमेतम्पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ २ ॥

आदित्यवर्णम् = आदित्यवर्णः स्वरूपमिव स्वरूपं यस्य तं प्रकाशमित्यर्थः। उपमान्तराभावात्। स्वयमेव उपमोपमेययुक्तमित्यर्थः। स्वप्रकाशः सन् अन्यान्यपि वस्तूनि प्रकाशयतीति। एवमयमपि स्वप्रकाशब्रह्मरूपो जगदपि प्रकाशति, इति। तमसः = अन्धकारादविद्यायाः परस्तात् = दूरतरम्। एतम् = परमात्मानं। महान्तम् = सर्वोत्कृष्टं महागुणविशिष्टमित्यर्थः। पुरुषम् = सूर्यमण्डलस्थं पुरुषोत्तमं श्रीरामम्। अहं वेद = वेद्मि, जानामि। ऋषेः प्रतिवचनमिति। तमेव = आदित्यमेव पुराणपुरुषमेव। विदित्वा = विज्ञाय। मृत्युम् = दुःखप्रदं मरणमित्यर्थः। एति = अतिक्रामति परब्रह्मपदं गच्छति। तं पुरुषमनुप्रविशतीति भावः। तस्य = जनस्य। अयनाय = गमनाय आश्रयाय मोक्षाय अभीष्टस्थानाय वा इत्यर्थः। अन्यः पन्था मार्गो न विद्यते = नास्ति। पुनरावृत्तये मोक्षाय अन्यः पन्था न विद्यते। तथा चायमेव पुरुषो ध्यानगम्यो जातो मोक्षं ददातीति वाक्यार्थः ॥ २ ॥

आदित्यवर्ण अन्धकाररूपी अविद्या से परे स्वयं प्रकाशमयरूप, सर्वोत्कृष्ट सर्वव्यापक इस सूर्य मण्डलस्थ पुरुषोत्तम श्रीराम जी को मैं जानता हूँ। उस स्वप्रकाशरूप पुरुषोत्तम पुरुष को ही जानकर मनुष्य दुःखप्रद मृत्यु का उल्लङ्घन कर जाता है। मनुष्य को मुक्ति के लिये और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यदि मनुष्य इस लोक और परलोक की इच्छा करे तो सर्वोत्कृष्ट आदित्यवर्ण स्वयं प्रकाश और आनन्दरूप अन्धकाररूपी अविद्या से परे वर्तमान जगदीश्वर श्रीराम को जाने, जिसके द्वारा जन्ममरणादि दुःखों से छूट जायेगा। इससे बढ़कर और कोई भी दूसरा मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ॥ २ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो
बहुधा विजायते ॥ तस्य योनिम्परिपश्यन्ति
धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ ३ ॥

प्रजापतिः=प्रजानां जीवानां पतिः प्रजापतिः=परमात्मा अन्तर्यामी अन्तः=अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति=प्राणिनां देहमध्ये जीवात्मारूपेण वसतीत्यर्थः। अजायमानः=नित्यत्वादनुत्पत्तिधर्मोऽपि। बहुधा=बहुप्रकारेण कार्यकारणरूपेण। विजायते=प्रकटीभवतीति। स्थावरजंगमात्मदेहेषु जन्म लभते। यद्वा—अजायमानोऽपि स एव गर्भे बहुधा विजायते=प्रादुर्भवति। स्वमायया प्रपञ्चरूपेण उत्पद्यते, इति वा। धीराः=ध्यानशीलाः, ब्रह्मविदः। तस्य=प्रजापतेः। योनिम्=स्थानस्वरूपम्। परिपश्यन्ति=समन्तादवलोकन्ते ध्यातवन्त इत्यर्थः। तस्मिन्=जगदीश्वरे। भुवनानि=भूरादयो लोकाः भवन्ति येषु तानि लोकजातानि। विश्वाः=सर्वाणि चराचरभुवनानि। ह=निश्चयेन। तस्थुः=तिष्ठन्ति। स्थितानि स्वर्गमृत्युपातालादि लोकलोकान्तराणि स्थितानि सर्वं तदात्मकमेव भावः ॥ ३ ॥

जो यह सबके रक्षक जगदीश्वर है गर्भस्थ प्राणिमात्र के हृदय में जीवात्मारूप होकर सब के हृदय में विचरता है और न उत्पन्न होने वाला होकर भी कार्य-कारण अनेक प्रकार से उत्पन्न (प्रादुर्भूत) होता है। अर्थात्—वह अपनी माया के द्वारा प्रपञ्चरूप से अनेक शरीर धारणकर प्रकट होता है। धीर पुरुष विद्वद्जन उस प्रजापति के कारणभूत परमात्मा के स्वरूप को देखते हैं। उसी जगदीश्वर परमात्मा राम में सब लोक लोकान्तर स्थित हैं। इस विषय में कवि-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

देशकाल दिशि विदिशहुमाहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥ ३ ॥

(रामचरितमानस चौ० बा० का० दो० १८५ के ऊपर है)

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानाम्पुरोहितः ॥
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ ४ ॥

यः = आदित्यरूपो दिव्यगुणविशिष्टपुरुषः। देवेभ्यः = देवानां प्रयोजनाय आतपति=आसमन्ताद् भावेन, अतिशयेन वा तपति, आदित्यरूपेणेत्यर्थः। अथवा— देवानां मध्ये स्वात्मानं प्रकटयति, प्रकाशयति, उदेति वा। आदित्ये कर्मण्यधिकारो भवति (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी)। यो देवानां = अमराणां, पुरोहितः = सम्मुखे स्थितः सन् पुरः = अग्रे हितः निहितः स्थापित इत्यर्थः। देवानां हविर्दानाय पूर्वमग्निरूपेणाधीयते, इत्यभिप्रायः। यो देवेभ्यः = अमरेभ्यः सकाशात् पूर्वो जातः प्रादुर्भूतः सन्। आदित्यो द्वादशादित्यः प्रथमः समुत्पन्न इत्यर्थः। तस्मै कान्तिमते दीप्यमानाय आदित्याय नमः। अथवा—तस्मै रुचाय रोचमानाय ब्राह्मये ब्रह्मभूताय ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मिः तस्मै ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

जो आदित्यरूप दिव्यगुणों से विशिष्ट पुरुष देवताओं के निमित्त सब ओर से प्रकाशित होता है। जो देवताओं के कार्य में अग्रणी होता है अथवा—सर्वप्रथम हितकर पूजनीय है। अथवा—पृथिव्यादिलोकों के मध्य स्थित है। जो सब देवताओं से प्राक् (पहिले) प्रकट हुआ है। उस कान्तिमान् ब्रह्म के अवयवभूत के लिये नमस्कार है।

जिस जगदीश्वर ने सबके हित के लिये अन्नादि की उत्पत्ति निमित्त सूर्य को उत्पन्न किया (बनाया) है, उसकी उपासना करनी चाहिये ॥ ४ ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन् ॥
यस्त्वैवम्ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे ॥ ५ ॥

देवाः = ब्रह्मादयो देदीप्यमानाः प्राणाः वा। रुचम्=रुचिकरं देदीप्यमानं कान्तिमन्तम्, शोभनं वा। ब्राह्मम् = ब्रह्मसुतं प्रकाशमानं ब्रह्मणः। जनयन्तः = उत्पादयन्तः निष्पादयन्तः सृष्ट्यर्थमित्यर्थः। अथवा = ब्राह्मम् = शान्तमानन्दमयं दिव्यं भर्गो ज्योतिर्मयमित्यर्थः। अग्रे = पूर्वं तद् = ब्रह्म। जीवप्रकृतिस्वरूपमुख्यम् अब्रुवन् = उक्तवन्तः। हे पुरुषोत्तम! य एवम् = "सहस्रशीर्षा" इति पूर्वोक्तप्रकारेण अधीत्य। ब्राह्मणः त्वाम् = पुरुषोत्तमं पुरुषं विद्यात् = विजानीयात्, जानाति वा तस्य = ब्रह्मोपासकस्य। देवाः = द्योतनशीला देवगणा इत्यर्थः। वशे = तदधीनाः, इच्छानुवर्तिनः, आसन्=बभूवुः। अर्थात्—उपासकाः जगत्पूज्या भवन्तीत्यर्थः ॥५॥

ब्रह्मादि देवगण एवं मरीचि आदि ऋषियों ने देदीप्यमान आदित्य पुरुष को उत्पन्न करते हुए, पहिले जगत् कारण परमात्मस्वरूप का वर्णन किया है।

हे पुरुषोत्तम भगवन्! जो ब्राह्म उपासक ब्राह्मण आपको "सहस्रशीर्षा" इस पूर्वोक्त प्रकार से अध्ययन कर प्रकट जानता है, तो उस उपासक ब्राह्मण के

वश में सब देवता हो जाते हैं। अथवा—उस आदित्य उपासक ब्राह्मण के वश में सब हो जाते हैं। अर्थात्—वह जगत्पूज्य होता है॥ ५॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्॥ इष्णन्नि-
षाणामुम्मऽइषाण सर्व्वलोकम्मऽइषाण॥ ६॥

हे पुरुषोत्तम! ते=तव। श्रीः लक्ष्मीश्च पत्न्यौ सहचारिण्यौ त्वामलभत इत्यर्थः। चकारद्वयं तुल्यप्राधान्यज्ञापनार्थमिति। श्रीरैश्वर्यं शोभा कान्तिर्वा। लक्ष्मीः संपत्तिर्धनं वा। यद्वशात्पुरुषो जनो लोकानामाश्रयणीयो भवति सा लक्ष्मीः। यद्वशात्पुरुषो मनुष्यलोकानां दर्शनीयो भवति सा लक्ष्मीः। अहोरात्रे=रात्रि-दिवसे। पार्श्वे=पार्श्वद्वयम्। अहः शब्दः परब्रह्मपरकः। तस्य विद्यात्मकत्वेन प्रकाशत्वात् रात्रिशब्दः संसाररूपत्वेन प्रकृतिपरः। तस्या अविद्यात्मकत्वेन अप्रकाशत्वमित्यर्थः। एतेन धमार्थकामात्मकः संसारो मोहश्च श्रीपरमेश्वरस्य पार्श्वद्वयमित्युक्तं भवति। हे प्रभो! नक्षत्राणि तव रूपेणैव चमचमायन्ते। अश्विनौ = द्यावापृथिव्यौ तव व्यात्तम् = विवृतं मुखमस्ति। एवंभूतं त्वां पुरुषोत्तमं, अहं। याचे= प्रार्थये, इत्यर्थः। इष्णन्=सकामस्य कर्मफलेच्छां कुर्वन्नित्यर्थः। इषाण=इच्छ, अनुगृहाण निजोपासकं स त्वमनुगृहाणेत्यर्थः। किं च मे=मह्यं मम वा। अमुम् = इहलोकमर्थधर्मकामं भार्यापुत्रादिकमिषाण। अमुम्=अपि तु मे=मदर्थं सर्वलोकं भूरादिससलोकमिषाण=कामय, इच्छ इति वाक्यार्थः। यः कश्चिज्जनः स्वर्गपुत्रादीन् कामयमानोऽनेन "सहस्रशीर्षा" अध्यायेन त्वां स्तौति, पूजयत्युपतिष्ठते तमनुगृहाण।

ममापि पुत्रधनधान्यादि पशुयुक्तम् इहलोकसुखमिच्छन्तः स्वर्गमोक्षादिकम् इषाण = इच्छ। तव वाञ्छामात्रेणैव सर्वं संपद्यते सत्येच्छत्वादित्यभिप्रायः। अत्र स्तुतिपूर्वं प्रार्थना महती वर्तते इति भावः॥ ६॥

हे पुरुषोतम! आपकी समग्र शोभा अर्थात्—सुन्दरता और ऐश्वर्य ये दोनों ही स्त्री के रूप में वर्तमान हैं। रात्रि दिन आपके पार्श्व (पसलियाँ) हैं। हे प्रभो! तुम्हारे रूप (तेज) से नक्षत्र चमचमाते हैं। द्यावा (आकाश) और पृथिवी आपके फैलाये हुए (मुख) हैं। हे जगदीश्वर! कर्मफल की अभिलाषा करते हुए, मुझ उपासक के लिये परलोक मोक्ष के सुख को चाहते हुए, समीचीन (इहलोक) के सुख (अर्थ, धर्म और काम) प्राप्त हों। हे राम जी! मुझे ज्ञान तथा ऐश्वर्य दीजिये जिससे कि मैं सर्वत्र आपका ही अनुभव किया करूं॥ ६॥

इति नारायणसूक्तं समाप्तम्।

(३) श्रीसूक्तम्

वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं, कैशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम् ।
हन्तुं त्रितापमनिशं मुनिहंससेव्यं, सन्मानसालिपरिपीतपरागपुञ्जम् ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यद् विश्वस्य च कारणम् ।
प्रकृत्या क्रीडमानं तत्परं सत्यमुपास्महे ॥

ॐ हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥ १ ॥

हे जातवेदः ! जातानि वेद, जातप्रज्ञो वा, विश्वस्य प्रज्ञा स्वरूप ! हे जातप्रज्ञ भगवन् ! त्वम् । अत्र जातवेदःपदेन केचिदग्निं केचिद्रामं केचिन्नारायणमितरे रुद्रं प्रार्थयन्ति, इत्यभिप्रायः । लक्ष्मीं = विविधलक्षणवतीं श्रियं विश्वस्य मातरं आशापुरां देवीम् । मे = मह्यं मदर्थं ममाभीष्टसाधनार्थं मदुद्धारार्थं वा । (त्वम्) आवह= आह्वय आकारय आकर्षय मम गृहे निवासार्थं मत्समीपं आनय । कीदृशीं लक्ष्मीमित्यत आह—हिरण्यवर्णाम् = सुवर्ण इव कान्तिर्यस्यास्तां, सुवर्णसदृशकान्तिम् । हरिणीम् = काचित्श्वेतगौरवर्णाम् अर्थात् मनोहरणशीलां हरिणीरूपधारिणीं वा । सुवर्णरजत स्रजाम्=सुवर्णस्य पुष्पाणि सुवर्णानि रजतस्य पुष्पाणि रजतानि–"पुष्पमूलेषु बहुल" मितिसूत्रेण विकारार्थप्रत्ययस्य लुक् । तेषां स्रजो यस्यास्तां तथोक्तां सुवर्णमय रजतमयपुष्पमालाधारिणीमित्यर्थः । सुवर्णमिश्रितरजतसदृशमालाधारिणीं । चन्द्राम् = चन्द्रवद्भासमानां चन्द्ररूपेण विश्वमाह्लादयन्तीं जीवयन्तीं । चदि आह्लादने धातो रूपम् । हिरण्मयीम्=सुवर्णस्वरूपां सुवर्ण एव विग्रहो यस्यास्तां तथोक्ताम् । एवं रूपां लक्ष्मीं लक्षणवतीं लक्ष्मसंयुक्तां वा । तदुक्तम्—"ज्ञानैश्वर्यसुखारोग्यधनधान्यजयादिकम् । लक्ष्म यस्याः समुद्दिष्टं सा लक्ष्मीति निगद्यते" (इति निरुक्तसारे) । हरिणीं तु हरेः पत्नीं दारिद्र्य परिहारिणीम् । प्रपद्येऽहं हरिद्राभां हरिणाक्षीं हिरण्मयीम् ॥ १ ॥

हे सर्वज्ञ भगवन् ! सबका हित करनेवाली अथवा सुवर्ण सदृश कान्तिवाली, मनोहर रूप वाली, सुवर्ण मिश्रित चाँदी की सदृश माला धारण करने वाली चन्द्रमा के सदृश सबको आह्लादित करनेवाली, सुवर्ण सदृश देदीप्यमान स्वरूप वाली लक्ष्मी को आप मुझे प्राप्त कराओ ॥ १ ॥

ॐ तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ॥ २ ॥

हे जातवेदः ! यस्यां सत्यामहं पुरुषान् गाम् अश्वं हिरण्यं च विन्देयम्, अनपगामिनीं तां लक्ष्मीं मे आवह इत्यन्वयः। "जातवेदः कस्मात्? जातानि वेद एनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो, जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। यत्तज्जातः पशूनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति ब्राह्मणम्" इति निरुक्तानुसारम्। हे जातवेदः ! सर्वज्ञ ! सर्वगत ! सर्वसंपन्निधान भगवन् ! यस्याम् = महालक्ष्म्यां संप्राप्तायां सत्यामहम्, पुरुषान् = पुत्रपौत्रमित्रशिष्यसेवकादीन् विन्देयम् = प्राप्नुयाम्, तथा गाम् = पयस्विनीं धेनुं धुर्वोढारं वृषभं पृथिवीं वा विन्देयम्। अश्वम् = प्रजवं वाजिनं विन्देयम्। हिरण्यम् = सुवर्णादि रूपं द्रविणं च विन्देयम्। ताम् = तादृशीम्। अनपगामिनीम् = अपगमनरहितां चाञ्चल्यरहितां अनपायिनीं वा—"राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि" इति पुराणात्। तां = तादृशीम् लक्ष्मीं = प्रशस्तलक्षणवतीं श्रियं, मे = मदर्थं मद्गृहे आवह = समानय आह्वय आकारय इत्यर्थः ॥ २ ॥

हे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवन् ! जिस के निवास करने पर मुझे पुत्र, पौत्र, मित्र, शिष्य, सेवकादि पुरुष मिलें, हाथी, घोड़े, गौ, बैल अथवा पृथिवी धन धान्य प्राप्त हों; उस अपनी अटल सङ्गिनी लक्ष्मी देवी को मुझे प्राप्त कराओ ॥ २ ॥

ॐ अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥ ३ ॥

अश्वपूर्वाम् = अश्वाः पूर्वे पुरोगाः यस्यास्ताम्। रथमध्याम्=रथा मध्ये यस्यास्तां स्यन्दनैः परिपूरितमध्यभागाम्। हस्तिनां गजानां नादेन गजतुर्यादिनादेन बृंहितेन दशदिग्व्यापिना ध्वनितां, प्रबोधिनीम् = प्रकर्षेण बोधनशीलां, गमनागमनकाले गजध्वनीनां ज्ञापयित्रीं ज्ञापिकामिति भावः। देवीम् = देवनशीलां द्योतनशीलां वा सैनिकानां विविधगतिक्रीडाभिर्द्योतमानाम्। श्रियम् = श्रयणीयां सेनारूपां। राजसंपदम् मातरम्। उपह्वये = मत्समीपं आगच्छ इति प्रार्थये। आगन्तुं प्रार्थिता च सा श्रीरूपिणी लक्ष्मीः, देवी = तदधिष्ठातृत्वेन देवतास्वरूपा। मा = मम स्तावकं जुषताम् = सेवतां प्रीयतां वा, मेऽभिलषितानि पूरयतु ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में सेवा के स्वरूप में लक्ष्मी देवता की स्तुति की गई है। साधक कहता है कि हे भगवन् ! मैं उस राजलक्ष्मी की स्तुति करता हूँ, और उसका

स्वागत करता हूँ कि जिसके आगे-आगे अच्छे लक्षणवाले माङ्गलिक घोड़ों की पंक्ति लगी है, जिसके बीच में भाँति-भाँति के सुन्दर और मजबूत रथ शोभा पा रहे हैं; जो हजारों हाथियों की आवाज़ से गूञ्ज रही है, जो सैनिक वीरों की क्रीडा (कवायतों) से मन को खींच लेती है। हे सर्वज्ञ ! भगवन् ! वही दिव्यगुणवाली देवी लक्ष्मी मुझ को प्राप्त हों तथा मुझ पर प्रसन्न हो।

जहाँ पाठभेद हो। अश्वपूर्णाम् = घोड़ों से परिपूर्ण। हस्तिनादप्रमोदिनीम् = हाथियों के शब्द से परमानन्दित कराने वाली ॥ ३ ॥

ॐ काँसोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥४॥

इह = अस्मिन्स्थाने, तां श्रियमुपह्वये, काम् = काञ्चिदेव वाणीस्वरूपां वाङ्मनसोरगोचराम्, ब्रह्मादिदेवैरप्यनिर्वचनीयस्वरूपां, ब्रह्मरूपां वा। सोस्मिताम् = स आ + उत् स्मितामितिच्छेदः। आ समन्तान्मुखकमलं व्याप्य उद्गतं यत् स्मितं मंदहास्यं तेन सहिताम्। हिरण्यप्राकाराम् = सुवर्णस्य दुर्गेनावृतमन्दिराम् अथवा प्रकृष्ट आकारः प्रकारः, हिरण्यंप्राकारो यस्यास्ताम्, हितरमणस्वरूपां सुवर्णवर्णां वा। आर्द्राम् = जलरूपां विश्वस्य जीवधारां चन्द्रगुणां ओषधिरूपां क्षीरोदधेरुत्पन्नत्वात्। अथवा—आर्द्राम् = दयार्द्रहृदयां भक्तानामल्पसेवया सत्वरं बहुफलदायिनीं कोमलस्वभावां स्नेहपूर्णहृदयां वा। ज्वलन्तीम् = ज्योतिःस्वरूपेण विश्वं प्रकाशयन्तीं प्रकाशमानां स्वभक्तानां शत्रूंस्तापयन्तीं दहन्तीमिति—"आर्द्रां-ज्वलन्तीम्" अत्र तु विरोधाभास अलङ्कारः। तृप्ताम् = स्वयं पूर्णकामो, सन्तुष्टां इत्यर्थः। परन्तु निजभक्तान् तर्पयन्तीम् = वरप्रदानदारिद्र्यनाशनातुलितैश्वर्य-प्रदानैः स्वभक्तानां मनोरथपूर्तिकारिणीं, विविधभोगवैभवप्रदानैः स्वभक्तान् पूर्णमनोरथान् कुर्वन्तीं तोषयन्तीम्। पद्मे स्थिताम् = प्रफुल्लकमले कमलासने आसीनाम्। पद्मवर्णाम् = कमलवद्भासमानां तादृशीं तां जगत्प्रसिद्धां श्रियं = लक्ष्मीं, उपह्वये = आवाहयामि ॥ ४ ॥

जो मन एवं वाणी के अगोचर है तथा जिसके स्वरूप का कोई निरूपण नहीं कर सकता।

इस विषय में कविकुल सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उद्धृत किया है—"सिय शोभा नहि जाइ बखानी। जगदम्बिका रूप गुण खानी॥" (रामचरितमानस बा० का० दो० २४६) अर्थात् ब्रह्मरूपा है। वह मुसकराती हुई है, सुवर्ण सदृश देदीप्यमान आकृतिवाली अथवा सुवर्ण से परिवेष्टित है। समुद्र से

उत्पन्न होने के कारण भीगी शरीरवाली होती हुई भी प्रकाशमान है अथवा कोमल हृदय वाली है। वह स्वयं संपूर्ण काम है परन्तु भक्तों के नानाविध मनोरथों को पूर्ण करने वाली है। कमल के आसन पर विराजमान है, कोमल स्वभाव वाली, उस जगत् प्रसिद्ध लक्ष्मी को मैं अपने समीप आवाहन करता हूँ ॥ ४ ॥

ॐ चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियंलोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मनेमिं शरणमहं प्रपद्येऽअलक्ष्मी मे नश्यतां त्वां वृणोमि ॥५॥

चन्द्राम् = चन्द्रवत् अमृतवर्षिणीं जीवनदात्रीम् आह्लादयन्तीम्। प्रभासाम् = प्रकृष्टा भासा तेजः प्रकाशः कान्तिर्यस्यास्तां दिव्यप्रभां दिव्यप्रकाशां सूर्यचन्द्रादीन्प्रकाशयन्तीं दिव्यज्ञानेन भक्तानां हृदयादज्ञानादिदोषान् परिहरन्तीं विश्वं भासयन्तीम्। लोके=चतुर्दश सुलोकेषु। कीर्त्या=यशसा ऐश्वर्यसमृद्धिभक्तवरप्रदानादिना कीर्त्या। ज्वलन्तीम् = प्रकाशमानां गीयमानकीर्तिम्। अत एव देवजुष्टाम् = इन्द्रादिदेवगणैः सेवितां प्रीतां ब्रह्मादिदेवगणशिरश्छत्ररूपाम् वा। उदाराम् = भक्तानां अल्पसेवया महाफलदात्रीं दारिद्र्यादिदुःखहारिणीं वदान्यस्वभावां तामेवंविधैः उक्तैः अन्यैश्च विविधगुणैः संपन्नाम् पद्मनेमिम् = कमलपरिधिम्। अत्र तु पाठभेदः यत्र पाठः पद्मिनीम्=पद्मिनीं पद्मलतारूपां पद्मधारिणीं पद्मासनाऽऽसीनां, कमलिनीसदृशां सर्वतो मनोहरां वा। ईं ईकारवाच्यास्वरूपां तां = जगद्विख्यातां स्वानुभवमात्रवेद्याम्। श्रियम् = लक्ष्मीं लोकेऽस्मिन् भूतले अहं शरणं प्रपद्ये रक्षित्रीं प्रपन्नोऽस्मि। अत एव हे श्रीः = हे लक्ष्मीमातः! मे = मम अलक्ष्मीः = लक्ष्म्या-अभावः दारिद्र्यादिदुःखानि। नश्यताम् = प्रणश्यतु, अतोऽहं त्वां = भवतीम् लक्ष्मीं, वृणे = याचे पाठान्तरे, वृणोमि = प्रार्थये ॥ ५ ॥

अत्यन्त गौरवर्ण वाली, बहुत कान्तिवाली अपने निर्मल यश से तीनों लोकों में विख्यात तथा देवताओं से स्तुत्य, दयालु और सब कुछ देनेवाली, कमलिनी के सदृश कोमल और सुन्दर स्वभाववाली उस ईकार नामिका लक्ष्मी की मैं इस जगत् में स्तुति करता हूँ, उसको ही मैं अपना रक्षक समझता हूँ। इसीसे हे लक्ष्मी माता! मेरी सब प्रकार की दरिद्रता दूर हो, यह वर मैं आपसे याचना करता हूँ। प्रथमवर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः ।
तस्य फलानितपसा नुदन्तु मा या ऽन्तरायाश्चबाह्याऽअलक्ष्मीः ॥६॥

हे आदित्यवर्णे = हे सूर्यसदृशवर्णे श्रीः मातः। तव तपसः = तपःप्रभावात् वनस्पतिः=वृक्षे जातिविशेषः बिल्वः अधिजातो = प्रादुर्भूतोऽस्ति। "बिल्वो लक्ष्म्याः करेऽभवत्"। अथ = तदनन्तरं बिल्ववृक्षः तव तपसा जातः एतस्मात्कारणात्। तस्य = बिल्ववृक्षस्य, फलानि = प्रसवानि। मा = मां प्रति साधकस्य याः काश्चन, अन्तराः=अन्तर्गता अन्तरिन्द्रियसंबन्धिनीः माया=अज्ञानं तत्कार्याणि। अथवा— मायान्तरा = भगवत्या मायया प्राप्ता या बाह्या अलक्ष्मीः दरिद्रताः तपसा लक्ष्मी-देव्यास्तपःसम्बन्धेन, नुदन्तु = निवारयन्तु। अत एव बिल्वफलस्नानभक्षणादिकं तपो वर्धकं श्रीकरं च भवति ॥ ६ ॥

उदित होते हुए सूर्य के समान कान्तिवाली, हे लक्ष्मी देवि! वनस्पतियों में जो बिल्व नाम वाला वृक्ष है वह तेरे ही तप से उत्पन्न हुआ है। उसके फल मेरे अन्दर की मन बुद्धि भाग्यसम्बन्धी दरिद्रता को तथा मेरे बाहर की धन-धान और पशु आदि की दरिद्रता को दूर करें ॥ ६ ॥

ॐ उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ॥ ७ ॥

हे श्रीः! हे मातः! त्वदुपासकोऽहं यस्मादस्मिन् राष्ट्रे मर्त्यलोके प्रादुर्भूतोऽस्मि जन्म गृहीतवानस्मि तस्मादेव हेतोः त्वां प्रार्थये। अयि जगदम्बे! तव कृपापात्री-भूता राजानः श्रीमन्तश्च अत्रैव राष्ट्रे जाताः; अपि च अहमपि अत्रैव जातस्तस्मान् ममापि तादृश-संपल्लाभाय जन्मसिद्धोऽधिकार इति उपासकस्य सत्याग्रहोऽत्र ध्वन्यते। अत एव तव कृपया मां साधकं देवसखः कुबेर उपैतु।

देवसखः = देवः महादेवः सखा मित्रं यस्य सः कुबेरः। स च मणिना सह = चिन्तामणिरत्नेन मणिभद्रनामकेन कुबेरनिजकोशाध्यक्षेण वा सह सहितः, कीर्तिः यशः माम् = साधकं, उपैतु = प्राप्नोतु। कुबेरप्राप्तौ सर्वाभीष्टसिद्धिः प्रयोजनम्। ततश्च कीर्त्यभिमानिनी देवता, लक्ष्म्याः सहचरीति भावः। उपैतु। एवं संप्राप्तः स कुबेरः मद्राज्ये आगत्य कीर्तिं = यशः ऋद्धिम् = ऐश्वर्यधनधान्यादीप्सितसमृद्धिं मे = मह्यं ददातु ॥ ७ ॥

हे जगत्माता लक्ष्मी! तेरी उपासना करने वाला मैं भी इस सस्यशालिनी धरती पर पैदा हुआ हूँ। और कुबेर का स्थान बहुत दूर है, अतः मेरे लिये वे यहीं तेरी कृपा से मुझे मणिभद्र के मित्र कुबेर जी का दर्शन प्राप्त हो और वे मुझे यश और संपदाओं को देवें ॥ ७ ॥

ॐ क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वान्निर्णुद मे गृहात् ॥ ८ ॥

मम निवासस्थाने धर्मराज्ये सुराष्ट्रे महादेवस्य कुबेरस्य च प्रादुर्भावेन अहं क्षुत्पिपासामलां क्षुधातृषाभ्यां मलिनां दुःखदायिनीम् । अथवा—अयि भगवति ! अहं साधकस्त्वदनुकम्पया अलक्ष्मीं निर्धनतां नाशयामि । कीदृशीमलक्ष्मीमित्यत आह—क्षुत्पिपासामलां बुभुक्षया तृष्णया च मलिनस्वरूपाम् । ज्येष्ठां श्रियः प्रागुत्पन्नां क्षीरोदधिमथनसमये अलक्ष्म्याः पूर्वमुत्पन्नतया ज्येष्ठतामाहुः अत एव हे मातः ! त्वमभूतिम् = ऐश्वर्यराहित्यं, असमृद्धिम् = सकलभोग्यवस्तुविरहितां च मे गृहात् निर्णुद = अपनय दूरीकुरु ॥ ८ ॥

हे भगवति ! मैं तुम्हारी कृपा से अपनी निर्धनता को दूर करने में समर्थ होऊँ । ये भूख और प्यास ही महामल हैं । यह लक्ष्मी से भी बड़ी है संसार में प्रथम इसका ही जन्म हुआ है । इसलिये हे मातः गरीबी और बेकारी को मेरे घर से दूर निकाल दो ॥ ८ ॥

ॐ गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥ ९ ॥

इह = भूरूपां पृथिवीरूपां श्रियमुपह्वये । यथा "श्रीर्भूर्नीला, रमा दुर्गा, सीता, सत्या, च भामिनी । रुक्मिणी, तुलसी, राधा, सर्वा लक्ष्म्यंश संभवाः ॥" इति तामेव विवृणोति ।

गन्धद्वाराम् = गन्धो घ्राणग्राह्यो गुणः स एव द्वारं मार्गो यस्यास्तां गन्धगुणजननीं गन्धवतीम् । दुराधर्षाम्=दुःसहां केनापि धर्षितुं पराभवितुमशक्यां सहस्रशः पृथिवीपतिभिः स्वामिति मत्वा भुक्तामपि न कस्यचिदपि जातामिति भावः । नित्यपुष्टाम् = नित्यं सर्वदा सस्यादिभिः पुष्टाम्, निभृतां सुसमृद्धां सकलैहिकामुष्मिकवैभवविलासपदार्थैः परिपूर्णामत एव भक्ताशाः पूरयन्तीं अत एव भक्तान् पोषयितुं समर्था पोषयन्तीम् । करीषिणीम् = करीषं शुष्कमार्द्रं वा गोमयादिस्तद्वतीं; अनेन पृथिव्या असंख्यातगवाश्वादिपशुसमृद्धिमत्वं ध्वनितमित्यर्थः । सर्वभूतानां सकलप्राणिनामीश्वरीं सकलैश्वर्यसपन्नां आधारभूतां जीवयतीं पृथिव्युत्पन्नं सर्वप्राणिनां नियामिकां प्रभुरूपां निग्रहानुग्रहसमर्थमधिष्ठात्रीमाधारभूतामेतादृशीं तां पृथिवीरूपधारिणीं श्रियं लक्ष्मीं इह मम गृहे निवासार्थं उपह्वये = अहमाह्वानं करोमीत्यर्थः ॥ ९ ॥

यहाँ पर मैं जन्मभूमिरूपी महालक्ष्मी देवता की प्रार्थना करता हूँ, जोकि गन्ध लक्षणवाली है, तथा किसी के वश में न होनेवाली एवं शत्रुओं के द्वारा जिसका

स्वरूप नष्ट नहीं किया जा सकता है। जो धनधान्य और अनेक प्रकार के अन्न तथा फलादि संपदा से परिपूर्ण है। गौ, भैंस, हाथी, घोड़े आदि विविध पशुओं की समृद्धि वाली, एवं सकल प्राणियों की परिपालिका एवं निष्णात पोषिका है ॥९॥

ॐ मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥ १० ॥

हे श्रीः = हे लक्ष्मीः ! अहं मनःकामम् = भूरिमनोरथं, आकूतिम् = सन्तोषम्, इच्छारूपिणीं संसारस्य सर्वकार्यसिद्धिरूपम् आशयं सङ्कल्पं मनसो हार्दज्ञानं भक्तानां मनःसङ्कल्पितार्थसिद्धिं सकलजनानामन्तःकरणपरोक्षज्ञानम्। वाचः = वागिन्द्रियस्य, सत्यम्=याथार्थ्यं, वाक्सिद्धिम्। पशूनाम्=गजाश्वगोमहिष्यादीनाम्। रूपम् = क्षीरादिकम्। अन्नस्य = अदनीयस्य यवव्रीह्यादेः रूपम् = भक्ष्यभोज्यलेह्य-चोष्यरूपप्रकारचतुष्टयम्। अशीमहि = लभेमहि। पाठान्तरे। अन्यस्य = पौरजान-पदस्य रूपम् = वात्सल्यं प्रीतिमशीमहि। अन्यस्य = अस्मच्छत्रोर्वा रूपं श्रियम् ऐश्वर्यं यशः वयं लभेमहि। अर्थात्–अस्मच्छत्रुगृहान्निर्गता सा श्रीः सुवर्णादिसमृद्धिः। ऐश्वर्यं यशः सत्कीर्तिः सर्वं त्वदुपासके हे मातः! श्रयतामाश्रयतां स्थिरीभवतु मदधीनं भवतु मम शत्रुः श्रीयशो विरहितो भवतु इत्यर्थः ॥ १० ॥

हे लक्ष्मी माता ! मैं अपने मन की अभिलाषा को पूर्ण कर सकूँ, मेरे मनमें सन्तोष बना रहे, मेरी वाणी में सत्यता का वास हो, पशुओं में घी-दूध की वृद्धि हो, मुझे अन्न के अनेक रस प्राप्त हों (अपने जनपदों की प्रति प्रीति मुझे प्राप्त हो, एवं मेरे शत्रु श्री से हीन हो)। अतएव मुझे श्रीसम्पदा धन और यश प्राप्त हो ॥१०॥

ॐ कर्दमेन प्रजाभूता मयि संभव कर्दम ।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ॥ ११ ॥

हे कर्दम! हे लक्ष्मीपुत्र! त्वं मयि सम्भव=प्रादुर्भाव, पाठान्तरे–संभ्रम=सम्यक्तया भ्रमणशील। प्रसादं कुरु अर्थात् त्वं मद्गृहे पुत्ररूपेण अवतर अर्थात् मद्गृहे संवस। यतः त्वया कर्दमेन = कर्दमाख्येन श्रीपुत्रेण ऋषिणा। प्रजाभूता = श्रीप्रकृष्टेन जा उत्तमपुत्रवती भूता अभवत् जाता। "कर्दमस्तु श्रियः पुत्र" इति पुराणात्। जगन्मातरं स्वमातरं च पद्ममालिनीम्=कमलपुष्पमालाधारिणीं श्रियम् = लक्ष्मीम्, मे = मम, कुले = वंशे, वासय = निवासय। मद्गेहे तव जन्मना निवासेन वा त्वत्पृष्ठे तव माता लक्ष्मीरपि पुत्रवात्सल्येन आगमिष्यतीति भावः ॥ ११ ॥

लक्ष्मी जी के प्यारे पुत्र हे कर्दम जी ! मेरे ऊपर दया करो, जगन्माता लक्ष्मी

तू मेरे ऐसे पुत्र को प्राप्त कर ही सुपुत्रवती है। इसीलिए अपनी माता को जो कि कमलों की माला धारण करने वाली श्री है, हे कर्दम जी आप से इतनी ही मेरी प्रार्थना है कि—उस लक्ष्मी को मेरे वंश में स्थिर रहने की प्रेरणा करें ॥ ११ ॥

ॐ आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।

नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ॥ १२ ॥

आपः = जलाभिमानिन्यो देवताः। स्निग्धानि = सरसानि स्नेहयुक्तानि सुन्दर-पदार्थाः वस्तूनि वा, सृजन्तु = उत्पादयन्तु जलदेवतास्वरूपेण वरुणस्वरूपेण ब्रह्माण्डे यत्र यत्र जलतत्त्वं रसतत्त्वं वा विद्यते तत्र तत्तद्रूपेण विद्यमाना भगवती अस्मद्गृहेऽस्मत्कुले आपः = आर्द्रत्वं सुस्निग्धतां स्नेहपरिपूर्णत्वं मैत्रीं एकतां वा सृजन्तु। सुखं जिजीविषूणामस्माकं देहेषु वा स्निग्धपदार्थानां वैपुल्यं करोतु। वयं स्निग्धदृढपुष्टदेहा भवेम। अपां स्नेहगुणप्रधानत्वात्। हे चिक्लीतनामक श्रीपुत्र! त्वं मे = मम गृहे वस = निवासं कुरु। च = अपि च। देवीम् = दिव्यगुणयुक्तामेवं सर्वाश्रयभूताम्। मातरं श्रियम् = लक्ष्मीम्, मे = मम, कुले = वंशे, वासय=निवासय प्रतिष्ठापय वा।

पाठान्तरे—न त्वमेकाकी किमुत वाचां देवीम् = सरस्वतीस्वरूपेण त्रैलोक्य-व्याप्तां विश्वस्य वाणीस्वरूपेण स्थिताम्। अत्र तु 'नि' उपसर्गः। क्रियाविशेषणं च वर्तते। यत्र "नीच" पाठान्तरे तत्र नीच = अधो धाराप्रवाहजलं स्वाभाविकमस्ति। अथवा-नीचे = नीचानां अधोगतिप्राप्तानां दारिद्र्यदुःखाभिभूतानां नीचकुलोत्पन्नानां अन्त्यजानां वा भाग्योदयकरणेन उद्धारेण मन्दभाग्यानां तारणेन प्रकाशितकीर्त्तिं एवंगुणां स्वकीयां तव जगतश्च जननीं श्रियं मे कुले वासय निवासं कारय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

सुन्दरता (शोभा) और सरसता के रूप में ही जल में रहने वाली, लक्ष्मी देवता मेरे देश में रसों की वर्षा करें। लक्ष्मी के प्यारे पुत्र हे चिक्लीत! तुम मेरे घर में वास करो और उस माता लक्ष्मी को भी मेरे कुल में वास कराओ। तुम्हारे रहने से वह पुत्रवात्सल्यवती माता मेरे वंश में अवश्य ही निवास करेंगी ॥ १२ ॥

ॐ आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम्।

चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो मऽआवह ॥ १३ ॥

हे जातवेदः! हे भगवन्! मे = मम गृहे लक्ष्मीम् आवह = आकारय मद्गृहे निवासय। कथंभूतां लक्ष्मीम् आर्द्राम्=आर्द्रगन्धेनगात्रां, चन्दनपङ्केनाङ्कितदेहाम्। अथवा—आर्द्राम् = जलमयीं वर्षारूपिणीं प्रकृष्टजलवर्षणेन धान्यफलपुष्पाद्युत्पादनेन

षड्रसमयीम् । दिग्गजशुण्डाधृतकुम्भैरार्द्रां स्निग्धवर्णां चिक्कणवर्णामिति । पुष्करिणीम् = अभिषेकोद्यतदिग्गजपुष्करावृताम् । "पुष्करशब्दः गजशुण्डाग्रवाचकः"। "लक्ष्मीर्दिव्यैर्गजेन्द्रैर्मणिगणखचितैः स्नापितां हेमकुम्भै"रिति प्रसिद्ध्या दिग्गजास्तां निजशुण्डाग्रनिहितैः कुम्भैः स्नापयन्ति, इति भावः। पुष्करशब्दः पद्मवाचकोऽप्यस्ति। तेन कमलपुष्पमालाधारिणीं कमलासनां वा। पुष्टिम् = पुष्ट्यभिमानिनीं देवतां जगति पुष्टिरूपेण संस्थितां पोषकतत्त्वेन जगद्धारिणीं पिङ्गलाम् = पिङ्गलवर्णां, पद्ममालिनीम् = पद्मपुष्पमालाधारिणीम् । चन्द्राम् = चन्द्ररूपिणीं अमृतवर्षिणीं सिद्धिरसादिप्रदानेन भक्तशरीराण्यमराणि मरणभयरहितानि वा कुर्वन्तीम् । हिरण्मयीम् = भक्तानां दारिद्र्यहारिणीं सुवर्णभूषणैः सुशोभितविग्रहां सुवर्णरूपां वा एतादृशीं लक्ष्मीम् आवह = निवासय ॥ १३ ॥

हे भगवन् ! सुगन्धित आर्द्र चन्दन से शीतल शरीर वाली, भरे हुए सुवर्ण कमलों से युक्त, दिग्गजों के शुण्डाग्र से जिसका अभिषेक होता रहता है। पुष्टि रूप से सर्वत्र वास करने वाली, पिङ्गलवर्ण वाली एवं कमलों की माला धारण किये हुए, चन्द्रमा की भाँति सबको आनन्दित करने वाली तथा धनधान्य से भरपूर है, ऐसी उस लक्ष्मी को मुझे प्राप्त कराइये ॥ १३ ॥

ॐ आर्द्रां यः करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो मऽआवह ॥ १४ ॥

आर्द्राम् = रसजलगुणमयीं शीतलगुणां स्निग्धपदार्थमयीं घृतदुग्धादिस्निग्धपदार्थैः पूरितभक्तगृहां विपुलगोधनैः पूरितभक्तमनोरथाम् । यः करिणीम् = यष्टिकरां वेत्रहस्तां दण्डधारिणीं दुष्टानां दमनार्थं धृतदण्डां यष्टिदण्डरूपां धर्मदण्डस्वरूपां धर्मदण्डधराम् । (यथा—असमर्थव्यक्तेराधारो यष्टिः तथैव मानवस्य सकलव्यवहारो लक्ष्मीं विना कार्यसिद्धिर्न भवतीति भावः ।) सुवर्णाम् = शोभनरूपां रूपगुणेन जगन्मोहयन्तीम् । हेममालिनीम् = सुवर्णमालाधारिणीं । सूर्याम् = सूर्यरूपां सूर्यं प्रकाशयन्तीं सूर्यवत्प्रकाशमानाम् । हिरण्मयीम् = सुवर्णरूपेण जगद्व्यवहारकर्त्रीं लक्ष्मीं हे जातवेदः । मे = मदर्थं, आवह = निवासय ॥ १४ ॥

भक्तों पर सदा दयार्द्र चित्त वाली, दुष्टों को दण्ड देनेवाली एवं धर्मदण्डस्वरूपिणी । (जैसे—असमर्थ व्यक्ति का आधार दण्ड है वैसे ही मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार लक्ष्मी के बिना नहीं होता) सुन्दरवर्ण वाली या सुवर्णस्वरूप वाली सुवर्ण के आभूषणों से सुशोभित सूर्य के सदृश प्रकाशमान जैसे सूर्य अपनी

किरणों से जलवृष्टि द्वारा सब जगत् का पालन-पोषण करता है। वैसे ही लक्ष्मी भी अपने ज्ञान और धनधान्य प्रदान द्वारा जगत् का पालन-पोषण करती है। सुवर्णरूप जगद् व्यवहारकर्त्री लक्ष्मी को हे भगवन्! मेरे लिए बुलाइये ॥ १४ ॥

ॐ तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।

यस्यां हिरण्यं प्रभूतिं गावो दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् ॥

हे जातवेदः! हे भगवन् सर्वज्ञ! अग्ने वा ताम् = उपर्युक्तस्वरूपाम्, अनपगामिनीम् = मद्गृहान्निर्गमनरहिताम्। लक्ष्मीम् = श्रियम्। मे = मम गेहे। आवह = चिरनिवासिनीं कुरु। यस्याम् = लक्ष्म्यां प्राप्तायाम्। अहं हिरण्यम् = अतुलितं सुवर्णम्। प्रभूतिम् = उत्तमैश्वर्यम्। "प्रभूतं" पाठान्तरे भूयिष्ठमित्यर्थः। गावः = गाः धेनूः। दास्यः = असंख्यातान् दासीदासजनान् परिचारिकान् अश्वान् पुरुषान् = पुत्रमित्रभृत्यादीन्। विन्देयम् = लभेयम् अत्र "गावः दास्यः" उभयत्र समर्थे प्रथमा, जस् विभक्तिः ॥ १५ ॥

हे भगवन्! जिसके प्राप्त होने पर मुझे ऐश्वर्य अथवा बहुत धनधान्य गौ-घोड़े सेविकायें तथा सेवक आदि प्राप्त हो सकते हैं तो मेरे घर को छोड़कर अन्यत्र न जाने वाली उस लक्ष्मी को मुझे प्राप्त कराओ ॥ १५ ॥

तृतीय वर्ग समाप्तः।

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्।

श्रियः पञ्च दशर्चञ्च श्रीकामः सततं जपेत् ॥ १६ ॥

यः श्रीकामः मनुष्यः शुचिः = पवित्रः प्रयतः = सावधानो भूत्वा, अन्वहम् = प्रतिदिनम् श्रियः = श्रीसूक्तस्य पञ्चदर्शचं च = पञ्चदशमन्त्रैः प्रतिवारं आज्यम् = गोघृतम्, जुहुयात् = हवनं कुर्यात्। तथा श्रीकामः लक्ष्मीं कामयमानः जनः श्रियः = श्रीसूक्तस्य पञ्चदशर्चञ्च = पञ्चदशमन्त्रान् सततं जपेत् = पठेत् ॥ १६ ॥

जो मनुष्य पवित्र और जितेन्द्रिय होकर लक्ष्मी प्राप्ति की इच्छा से प्रतिदिन श्रीसूक्त के पन्द्रह मन्त्रों को पढ़ता हुआ गौ के घृत और बेल की आहुति दिया करें तथा इस सूक्त का पाठ अथवा पृथक्-पृथक् मन्त्रों का जप किया करें तब उस पर लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती हैं ॥ १६ ॥ (यह श्रीसूक्त ऋग्वेद का परिशिष्ट भाग है अथवा रुद्रयामलग्रन्थ से लिया गया है)

इति श्रीसूक्तं समाप्तम्

(४) अथ लक्ष्मीसूक्तम्

पद्मानने पद्मिनि पद्मपत्रे पद्मप्रिये पद्मदलायताक्षि ।
विश्वप्रिये विश्वमनोऽनुकूले त्वत्पादपद्मं मयि सन्निधत्स्व ॥१॥

संसार के मन को रिझाने वाली हे लक्ष्मी देवि ! तुम विकसित कमल के सदृश सुन्दर मुख वाली हो । किसी शास्त्र के अनुसार पद्मिनी संज्ञा वाली हो, कमल के समान सुकुमार गात्र वाली हो, कमल ही तुम्हें प्यारा है, कमल के पुष्प की पंखुरी के सदृश सुन्दर नेत्र वाली हो, हे सब जगत् के मन के अनुकूल रहने वाली देवि ! तुम्हारे चरण कमल मेरे ऊपर सदा विराजमान रहें । इस कथन से यह प्रार्थना की गई है कि लक्ष्मी मेरे घर से पैर न उठावें अर्थात्— स्थिररूप से निवास करें ॥ १ ॥

पद्मानने पद्म ऊरू पद्माक्षि पद्मसंभवे ।
तन्मे भजसि पद्माक्षि येन सौख्यं लभाम्यहम् ॥ २ ॥

हे कमलमुखी कोमलाङ्गी देवि ! तुम कमल के समान नेत्र वाली, कमल के सदृश कोमल चिक्कण ऊरू (जङ्घा) वाली, उस कमली-सी दया दृष्टि से मेरे ऊपर निहार (देख) जिससे कि मैं सुख प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

अश्वदायी गोदायी धनदायी महाधने ।
धनं मे लभतां देवि सर्वकामांश्च देहिमे ॥ ३ ॥

सकल सम्पदाओं की अधिष्ठात्री देवी ! घोडे गौ धनधान्य ऐश्वर्य आदि देने वाली हो इसी से हे देवी ! मेरी प्रार्थना है कि मेरी धन की और सब प्रकार की कामनाओं को पूरी करो ॥ ३ ॥

पुत्रपौत्रधनं धान्यं हस्त्यश्वादि गवे रथम् ।
प्रजानां भवसी माता आयुष्मंतं करोतु मे ॥ ४ ॥

हे महालक्ष्मी ! तुम सकल प्रजा की माता हो, अतः तेरी दया से मेरे घर में

पुत्र-पौत्र, धनधान्य, हाथी, घोड़े, बैल, रथ आदि सदा सम्पन्न रहें तथा—मैं भी बड़ी आयु तक जीऊँ ॥ ४ ॥

धनमग्निर्धनं वायुर्धनं सूर्यो धनं वसुः ।
धनमिन्द्रो बृहस्पतिर्वरुणं धनमश्विनौ ॥ ५ ॥

लक्ष्मी सर्वरूपा है, अग्नि आदि सब उसकी विभुतियाँ हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, जल, इन्द्र, बृहस्पति तथा वरुण देवता अश्विनौ-अश्विनीकुमार देवता है। यत्र "धनमस्तु मे" पाठान्तरे, सब देवता मुझे धन के रूप में प्राप्त हों। अर्थात् इनके द्वारा ही मुझे सब सम्पदायें मिलें ॥ ५ ॥

वैनतेय सोमं पिव सोमं पिवतु वृत्रहा ।
सोमं धनस्य सोमिनो मह्यं ददातु सोमिनः ॥ ६ ॥

विशेष—जैसे इस लोक का सुख लक्ष्मी से प्राप्त होता है, वैसे ही परलोक का सुख भी लक्ष्मी से ही प्राप्त होता है; क्योंकि परलोक के सुख का साधन यज्ञ है और यज्ञ लक्ष्मी के बिना नहीं हो सकता। इस बात को दिखाते हुए 'सोमपान', का विधि बतलाते हैं।

हे वैनतेय ! विनता के पुत्र गरुड़ जी ! आप सोमरस का पान करो। वृत्रासुर को मारने वाले इन्द्र देवता सोम पान करे।

इस प्रकार यज्ञ का मुख्य भाग लेने वाला इन्द्र और यज्ञ का फल देने वाले गरुड जी हैं। इन्द्र और गरुड इन दोनों की प्रार्थना करके, उनसे अपने लिए सोम प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं।

जो धनवान् का सोमपान करने वाले को सोम प्राप्त होता है, वे सोमपान करने वाले, उस सोम को मुझे देवें अर्थात्—जिस सोमपान (अमृत पान) के प्रभाव से मैं अजरामरवत् होकर स्वर्गलोक के सुख का अनुभव करूँ ॥ ६ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां श्रीसूक्तं जपेत् ॥ ७ ॥

इस सूक्त को पढ़ने वाले तथा जप करने वाले धर्मात्मा भक्तों का क्रोध मात्सर्य (डाह = मत्सरता) नहीं होती, अनुचित लोभ तथा पाप की बुद्धि दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना नहीं हुआ करती ॥ ७ ॥

सरसिजनिलये सरोजहस्ते धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभे ।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे त्रिभुवनभूतिकरि प्रसीद मह्यम् ॥८॥

कमल में निवास करने वाली, कमल को हाथ में रखने वाली अथवा कमल सदृश सुकोमल हाथ वाली, निर्मल सफेद वस्त्र को धारण करने वाली, चन्दन, इत्र आदि से सुगन्धित पुष्पों की मालाओं से सुशोभित, भगवान् विष्णु की प्यारी, हे भगवति जगदम्बे ! मनोहर रूप वाली अथवा तुम सबके मन की बात जानने वाली हो, परम ऐश्वर्यशालिनी एवं तीनों लोकों में ऐश्वर्य और सम्पदा को करने वाली हो, मुझ पर भी प्रसन्न हो जावो ॥ ८ ॥

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम् ।
विष्णुप्रियां सखीं देवीं नमाम्यच्युतवल्लभाम् ॥ ९ ॥

भगवान् विष्णु की पत्नी, विष्णु को प्यारी क्षमामयी (अर्थात् 'क्षमा' सब कार्य करने में समर्थ क्योंकि सब कार्य लक्ष्मी से ही हो सकते हैं) लक्ष्मी देवी सब की मित्र है अतः मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥ ९ ॥

ॐ महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि ।
तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् ॥ १० ॥

चकार पदपूरणार्थक है । मैं उस महालक्ष्मी को जानता हूँ । अथवा उसको प्राप्त करें । और उस विष्णुपत्नी का निरन्तर ध्यान करें, लक्ष्मी को सब कोई लक्ष्य कर देखते हैं अतः यह मुझ पर कृपा करें । उस लक्ष्मी के स्वरूप ज्ञान या प्राप्ति का स्मरण बना रहे, अतः वह हमारे लिए प्रेरणा करें अर्थात् उसकी प्रेरणा से ही हमें लक्ष्मी की प्राप्ति होगी ॥ १० ॥

आनन्दः कर्दमः श्रीदः चिक्लीत इति विश्रुताः ।
ऋषयश्च श्रियः पुत्रा मयि श्रीर्देवी देवता ॥ ११ ॥

आनन्द कर्दम श्रीद (कुबेर) और चिक्लीत ये विख्यात हैं । ऋषिगण लक्ष्मी के पुत्र हैं पूज्य और स्तुति करने योग्य हैं । दिव्य गुण वाली श्री जिसका सब कोई आश्रय लेते हैं, वह लक्ष्मी मेरे घर में निवास करें ॥ ११ ॥

ऋणरोगादिदारिद्र्यं पापञ्च अपमृत्यवः ।
भयशोकमनस्तापा नश्यन्तु मम सर्वदा ॥ १२ ॥

हे मातेश्वरी ! ऋण रोगादि, दरिद्रता पाप और अकाल, मृत्यु भय शोक और मनका सन्ताप ये सब मेरे सदा नष्ट हो जावें ॥ १२ ॥

श्रीर्वर्चस्वमायुष्यमारोग्यमाविधात्पवमानं महीयते ।
धनं धान्यं पशुं बहुपुत्रलाभं शतसंवत्सरं दीर्घमायुः ॥१३॥

इस लक्ष्मीसूक्त को पाठ करने से सम्पदा तेज आयु एवं आरोग्य मिलता है (प्राण जीवन प्राणों के अधीन है) पवित्रता अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि एवं शरीर की शुद्धि होती है जहाँ शोभमानं पाठ है शोभा प्राप्त करता है । धनधान्य पशु बहुत पुत्र-पुत्री की प्राप्ति सौ वर्ष तक आयु करें अर्थात् चारों ओर से इन सबको मुझे प्राप्त हों ॥ १३ ॥

इति लक्ष्मीसूक्तं समाप्तम् ॥

(५) अथ विष्णुसूक्तम्

विष्णोर्नुकमित्यस्य औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। विष्णुर्देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

ओ३म् विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥१॥

हे नराः! विष्णोः=वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुस्तस्य परमेश्वरस्य श्रीरामस्य। वीर्याणि=वीरकर्माणि सामर्थ्यमित्यर्थः कम्=सुखस्वरूपम्। प्रवोचम्=प्रकर्षेण ब्रवीमि स्तौमीति भावः। यः=विष्णुः परमात्मा। पार्थिवानि=पृथिवीसंबन्धीनि। रजांसि=रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि, अग्निवाय्वादित्यरूपाणि। यद्वा—रजांसि=पार्थिवपरमाणून्। नु=सद्योऽतिशीघ्रमित्यर्थः। विममे=विशेषेण निर्मितवान्, यः=विष्णुः। उत्तरम्=अतिविस्तीर्णम्। सधस्थम्=सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरीक्षम्। अस्कभायत्=तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा—यः=विष्णुः। पार्थिवानि=पृथिवीसंबन्धीनि। रजांसि=पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे=विविधं निर्मितवान्। किञ्च यो विष्णुः परमेश्वरः। उत्तरम्=उद्गततरम् उत्तरभाविनम्। सधस्थम्=सहस्थानं पुण्यकृतां सह निवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकम्। अस्कभायत्=सृष्टवान्। यद्वा—पार्थिवानि = पृथिवीनिमित्तकानि। रजांसि=लोकान् विममे=भूरादिलोकत्रयमिति भावः। भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां तत्कारणत्वम्। यः=विष्णुः। उत्तरम्=उत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्। आपुनरावृत्तेः तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थम्=उपासकानां सहस्थानं सत्यलोकं विस्तृतं द्युलोकं वा। अस्कभायत्=स्कम्भितवान् ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः। किं कुर्वन् त्रेधा विचक्रमाणः=त्रिप्रकारं स्वसृष्टवान् लोकान् विविधं क्रममाणः=विशेषेण प्रचालयन् "इदं विष्णुर्विचक्रमे" इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धम्। अत एव स परमात्मा उरुगायः=उरुभिर्महद्भिर्विद्वद्भिरतिप्रभूतं गीयमानो भवति। य एवं कृतवान्, एतादृशस्य विष्णोः=व्यापनशीलस्य देवस्य श्रीरामस्य वीर्याणि=पराक्रमान् प्रवोचम्। आचार्यः स्वशिष्यं प्रति कथयति—इत्थंभूताय विष्णवे परमात्मने त्वां समर्पयामि। यद्वा—सप्तम्यर्थे चतुर्थी। इत्थंभूते परमात्मनि त्वां नियुञ्जे, इत्यर्थः॥१॥

हे मनुष्य! मैं सर्वव्यापक परमात्मा के सामर्थ्य की स्तुति करता हूँ अर्थात्—

मैं परमात्मा की क्या स्तुति करूँ ? उसकी महिमा तो असीम है। जिस परमात्मा ने समस्त परमाणुओं की पृथिवी आदि अधोवर्ती सप्तलोक और ऊर्ध्ववर्ती द्युलोक अन्तरिक्षलोक स्वः जनः तपः आदि सप्तलोक का निर्माण किया। उस परमात्मा ने उत्कृष्टतर पुण्यात्माओं के साथ निवास करने योग्य सत्यलोक की रचना की। जिस परमात्मा ने विविध प्रकार स्वरचित लोकों को तीन पादक्रमण करता हुआ, सज्जनों से प्रशंसित, विष्णु रूप परमात्मा (श्रीराम) सबको उपासनीय है। हे शिष्य ! मैं उस परमेश्वर की सेवा में तुझे नियुक्त करता हूँ ॥ १ ॥

ॐ विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रेस्थो विष्णोः स्यूरसि।
विष्णो ध्रुवोऽसि वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥ २ ॥

आचार्यः शिष्यं शिक्षयति—त्वं विष्णोः = सर्वगस्य परमात्मनः। रराटमसि रराटोऽसि विशेषणरटनशीलोऽसि परमेश्वरोपासकोऽसीति यावत्। त्वं विष्णोः श्नप्त्रेस्थः = श्नप्त्रमसि शोध्योऽसीत्यर्थः। श्नप्त्रं श्नप्त्रम् ष्णा शौचे। तालव्यादिस्तु श्रुतिमाहात्म्येन। द्विवचनमपि तथैव। श्नप्यते, इति श्नप्त्रः। किञ्च त्वं विष्णोः स्यूरसि = श्लिष्टोऽसीत्यर्थः। विष्णुसम्बद्धोऽसीति भावः। षिवु तन्तुसन्ताने। स्यूतं वस्त्राद्यपि परस्परं श्लिष्टमेव भवति। विष्णोर्ध्रुवोऽसि = निश्चलतत्त्वमसि। ध्रुवति स्थिरं भवतीति ध्रुवम् "औणादिक" इति कप्रत्ययः। वैष्णवमसि = वैष्णवोसि विष्णोर्धार्योऽसि, पाल्योऽसि, रक्ष्योऽसीति भावः। विष्णोः भक्तोऽसि वा। त्वा शिष्यं विष्णवे = परमात्मना। तृतीयार्थे चतुर्थी। योजयामीति शेषः ॥ २ ॥

आचार्य शिष्य को उपदेश देता है। तू परमात्मा का स्मरण करने वाला है। तू विष्णु के शोध्य हो अर्थात्—वह तेरी बुद्धि को शुद्ध करे। तू परमेश्वर में ही संलग्न हो अर्थात्—तू वस्त्रादि की सीवन की तरह सम्बध हो जाओ। तू परमेश्वर का निश्चल तत्त्व है। वह तेरा रक्षक है। तू उसका भक्त है। अतः मैं तुझे उसके साथ आश्रय देता हूँ अर्थात् मैं उसके साथ जोड़ता हूँ।

सब जड़ चेतन जगत् का धारण-पोषण और उत्पन्न करने वाला परमेश्वर ही हैं ऐसी मनुष्य को प्रार्थना करनी चाहिये कि वे हमारी सब कामनाओं को पूरा करें ॥ २ ॥

प्रतद्विष्णुरित्यस्य औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः विष्णुर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः—

ॐ प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येणमृगो न भीमः कुचरोगिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥३॥

यस्य इति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते। सः=महानुभावः। वीर्येण=वीरकर्मणा पूर्वोक्तप्रकारेण स्तवते=स्तूयते सर्वैः। हे नराः। यस्य=जगदीश्वरस्य। उरुषु=विस्तीर्णेषु प्रभूतेषु, इत्यर्थः। त्रिषु=त्रिसंख्याकेषु। विक्रमणेषु सृष्टिक्रमेषु पादप्रक्षेपेषु इत्यर्थः। विश्वा=सर्वाणि। भुवनानि=समस्तलोकान्तरं भूतजातानीत्यर्थः। अधिक्षिपन्ति=आधाररूपेण आश्रित्य निवसन्ति। तत्=स विष्णुः=सर्वव्यापीश्वरः। प्रस्तवते=स्तौति। वीर्येण=स्वपराक्रमेण। कुचरः=सिंहः विष्णुश्च। सिंहपक्षे—कुत्सितं कर्म सिंहादिकं उच्चैर्नीचैर्विषमस्थलेषु। चरति=चलतीत्यर्थः। विष्णुपक्षे—कुचरः=शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कौ पृथिव्यां मत्स्यकूर्मादि रूपेण अथवा—कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा। गिरिष्ठाः=सिंहः विष्णुश्च। सिंहपक्षे—गिरौ पर्वते गुफायां तिष्ठतीति गिरिष्ठाः। प्राणिवधजीवनः। भीमः=भयङ्करः। मृगः=हरिणः न सिंहः इव। विष्णुपक्षे—गिरिवद् उन्नतप्रदेशे तिष्ठतीति गिरिष्ठाः=गिरि वेदवाण्यां गिरौ देहे वा अन्तर्यामिरूपेण तिष्ठतीति गिरिष्ठाः। मृगः=शुद्धः। न=इवार्थेऽत्र। भीमः=भीषणः। यथा—सिंहः मृगमन्वेष्टि तथैव शत्रूणां भीमो भयानकः सर्वेषां एवंभूतः विष्णुः समस्तलोकान्तरं प्रशंसितवान् अस्ति॥ ३॥

वह विष्णु अपने पराक्रम पूर्ण कार्यों से (लोगों के द्वारा) स्तुति किया जाता है। जैसे—सिंह, हरिण आदि जीवों के लिए भयङ्कर हिंसादि कुत्सित कर्म करने वाला है और पहाड़ों की गुफाओं में ठहरता है। वैसे ही वह विष्णु भी असुरों के लिए भयङ्कर, उनके प्रति हिंसादि कुत्सित कर्म करने वाला, सर्वत्र विचरणशील और पर्वतसदृश उन्नत प्रदेश में रहने वाला है। एवं सब जीवों के अधिपति है। जिसके तीन विशालपाद प्रक्षेपण में समस्त संसार आश्रित होकर रहता है॥३॥

प्रविष्णवे, इत्यस्य मेधातिथिः ऋषिः। विष्णुर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

ॐ प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षिते उरुगायाय विष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥४॥

विष्णवे=सर्वव्यापकाय। शूषम्=अस्मत् कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वम्। मन्म=मननं स्तोत्रमननीयं शूषम्=बलं विष्णुं वा। एतु=प्राप्नोतु। कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कीदृशाय। गिरिक्षिते=वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते। उरुगायाय=बहुभिर्गीयमानाय। विष्णे=वर्षित्रे कामानाम्। एवं महानुभावं शूषं बलं प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेष उच्यते। यः=विष्णुः। इदं=प्रसिद्धं दृश्यमानम्। दीर्घम्=अतिविस्तृतम्। प्रयतम्=नियतम्। सधस्थम्=सहस्थानम् लोकत्रयम्। एक इत्=

एक एव अद्वितीयः सन्। त्रिभिः पदेभिः=त्रिभिः पादैः। विममे=विशेषेण निर्मितवान्॥ ४॥

पर्वतसदृश उन्नत प्रदेश (स्वर्ग) में निवास है। यद्वा—मन्त्ररूप वाणी में स्थित रहने वाले, बहुतों से गीयमान उपासकों की कामना पूर्ण करने वाले, सर्वव्यापक विष्णु को मेरा बलपूर्वक मननयोग्य स्तोत्र बल प्राप्त हो। जिसने अकेले ही तीन पाद प्रक्षेपों (रखने) से अतिविस्तृत, नियत रूप से रहने वाले के साथ निवास योग्य स्थान (स्वर्ग) का निर्माण किया॥ ४॥

मेधातिथिः ऋषिः। विष्णुः देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

ॐ यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥५॥

यस्य=विष्णोः। मधुना=मधुरेण दिव्यामृतेन। पूर्णा=पूर्णानि। त्री=त्रीणि-पदानि पादप्रक्षेपणानि। अक्षीयमाणा=अक्षीयमाणानि। स्वधया=अन्नेन। मदन्ति=मादयन्ति। तदाश्रितजनानित्यर्थः। यः=विष्णुः। उ=एव। पृथिवीम्=प्रख्यातां भूमिं। द्यामुत=द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च। विश्वा=सर्वाणि। भुवनानि=भूतजातानि चतुर्दशलोकाँश्च। यद्वा=पृथिवीशब्देनाधोवर्ती, अन्य तलवितलादि सप्तभुवनान्युपात्तानि। द्युशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दशलोकान्। विश्वा=भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु=त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातु। त्रयविशिष्टं यथा भवति तथा, दाधार=धृतवानुत्पादितवानित्यर्थः। यद्वा—त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधार इत्यन्वयः॥ ५॥

जिस विष्णु ने मधुर एवं दिव्य अमृत से पूर्ण अविनश्वर तीन पाद प्रक्षेपण द्वारा आश्रितजनों को अन्न-जलादि से सबको तृप्त रखते हैं, और अकेले ही प्रख्यात पृथिवी, द्योतनात्मक अन्तरिक्ष तथा समस्त भुवनों को अथवा—पृथिवी-तलवर्ती तलातल सप्तलोक तथा द्युलोक अन्तरिक्षलोक सप्तलोक ऊपर, चौदहभुवनों को धारण किया है॥ ५॥

ॐ तदस्य प्रियमभि पाथोऽअश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य सहिबन्धुरित्थाविष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥६॥

अस्य=विष्णोः। प्रियम्=प्रियभूतम्। तत्=सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धम्। पाथः=मार्गः। अन्तरिक्षनामैतत्। अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः। अश्याम्=व्याप्नुयाम्। तदेव

विशिष्यते। यत्र=स्थाने। देवयवः=देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मनः इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तः। नराः=मनुष्याः। मदन्ति=तृप्तिमनुभवन्ति। तदस्यामित्यन्वयः। पुनरपि तदेव विशिष्यते। उरुक्रमस्य=अत्यधिकं सर्वं जगदाक्रमणस्य। तदात्मना, अत एव विष्णोः=व्यापकस्य परमेश्वरस्य। परमे=उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके। पदे=स्थाने। मध्वः=मधुरस्य। उत्सः=निष्यन्दो वर्तते। तदस्याम्। यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति सङ्कल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः। ततोऽधिकं नास्तीत्यत आह—इत्था=इत्थमुक्तप्रकारेण। सः=विष्णुः। हि=निश्चयेन, सर्वेषां बन्धुः=सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकरो वा। तदस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः ॥ ६ ॥

उस विष्णु के अति प्रियलोक (ब्रह्मलोक) को (हम) प्राप्त करें। जिस स्थान पर यज्ञ दानादि शुभ कर्मों से द्योतन स्वभाव वाले, विष्णु के पास पहुँचने की इच्छा रखने वाले लोग अमृत पीकर संतृप्त रहते हैं। विशाल पदप्रक्षेप वाले विष्णु के उत्कृष्ट एवं सुखमय, परम पद ब्रह्मलोक में मधुर रस का स्रोत (कुण्ड) है। वह सुकृतिजनों (पुण्यात्माओं) के लिए ऐसा उदार, हितकारी बन्धु है।

विशेष—इस मन्त्र में ब्रह्मलोक की कामना की गई है, क्योंकि वहाँ पहुँचने पर भूख प्यास जरा-मरण पुनरागमनादि का भय नहीं रहता। सङ्कल्प मात्र से ही दिव्यामृत तथा विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ सुलभ रहते हैं। संसार में इस प्रकार के सुख-साधनों के जुटाने में मनुष्य को अनेकों सङ्कट के सामना करना पड़ता है। फिर भी उन्हें तृप्ति भर भोग्य पदार्थ नहीं मिलते ॥ ६ ॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। विष्णुर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

ॐ त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां विचक्रमे शतर्चसं महित्वा।

प्रविष्णुरस्तु तवसस्तवीयान् त्वेषंह्यस्य स्थविरस्य नाम ॥७॥

एषः=देवः दानादिगुणयुक्तविष्णुः। शतवर्चसम्=शतसंख्यान्यर्चींषि यस्यास्तादृशीम्। एताम्=पृथिवीम्। उपलक्षणमेतत्। पृथिव्यादीन् त्रिलोकान् महित्वा=महत्त्वेन। त्रिः विचक्रमे=त्रिभिः पदैः विक्रान्तवान्। तवसः=तपस्विनो वृद्धादपि। तवीयान्=(वृद्धतरः) तवस्वितरः विष्णुः। प्र+अस्तु=अस्माकं प्रभवतु स्वामी भवतु। अस्य स्थविरस्य=वृद्धस्य विष्णोः। नाम=नामकं रूपं विष्णुरित्येतन्नामव वा त्वेषम् हि=यस्माद् दीप्तं तस्मात्कारणात् स विष्णुः प्रभवत्वित्यर्थः ॥ ७ ॥

दानादिगुणयुक्त असंख्य तेजों से युक्त विष्णु ने अपने महत्व से पृथिव्यादि लोकत्रय को तीनों पदों से नाप लिया था। वह विष्णु जो कि वृद्धों से भी वृद्धतर

है। वह हमारे स्वामी बनें। उन विष्णु के स्थविर (वृद्ध) रूप अथवा—विष्णु यह नाम जिस कारण से विशेष तेजस्वी हैं। वह विष्णु हमारे प्रभु (स्वामी) बनें ॥ ७ ॥

वसिष्ठ ऋषिः। विष्णुर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

ॐ विचक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्।
ध्रुवासोऽअस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ॥८॥

एषः=देवः विष्णुः एताम् पृथिवीम्=पृथिव्यादीन् इमान् त्रीन् लोकान्। क्षेत्राय=निवासार्थम्। मनुषे=स्तुवते देवगणाय दशस्यन्=असुरेभ्योऽपहृत्य प्रदास्यन्। विचक्रमे=विक्रान्तवान्। अस्य च विष्णोः। कीरयः=स्तोतारः जनासः=जनाः। ध्रुवासः=निश्चला भवन्ति। ऐहिकामुष्मिकयोर्लाभेन स्थिरा भवन्तीत्यर्थः। सुजनिमा शोभनानि जनिमानि कीर्तनस्मरणादिना सुखहेतुभूतानि यस्य तादृशो विष्णुः। उरुक्षितिम्=विस्तीर्णं निवासं। चकार=स्तोतृभ्यः करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

विष्णु ने देवताओं को देने के लिए तथा उनके निवास करने के लिए पृथिवी आदि तीनों लोकों को असुरों से छीनकर अपने पाद त्रय का विक्षेपण किया था। उन विष्णु की स्तुति करने वाले जन-निश्चल (स्थिर) स्वर्गादि फल की प्राप्ति करते हैं। जिनका अवतार, कीर्तन स्मरणादि के द्वारा सुख देने वाला है। वह विष्णु भगवान् स्तोताओं को विस्तीर्ण निवासस्थान देते हैं ॥ ८ ॥

परोमात्रयेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। विष्णुर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

ॐ परोमात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देवत्वं परमस्य वित्से ॥ ९ ॥

परः शब्द सकारान्तः परस्तादित्यर्थे। मात्रया परः परस्ताद् वर्तमानया परिमितया इत्यर्थः। तन्वा=शरीरेण। वृधान=वर्धमान हे विष्णो! ते=तव। महित्वम्=महत्त्वम्। न अनु अश्नुवन्ति=नानुव्याप्नुवन्ति। त्रैविक्रमशये यत्तव माहात्म्यं तत्सर्वैरपि जनैर्ज्ञातुं न शक्यत इत्यर्थः। ते तव, उभे रजसी=उभौ लोकौ। पृथिव्या आरभ्य पृथिवीमन्तरिक्षञ्च। विद्मः=जानीमः। वयं चक्षुषोपलभामहे नान्यत्। हे देव! द्योतमान विष्णो! त्वमेव परमस्य=स्वर्गादिरुत्कृष्टलोकस्य। परमं लोकं। वित्से=जानासि। अतस्तव महत्त्वं न केनापि व्याप्तुं ज्ञातुं शक्यमिति भावः ॥ ९ ॥

अपने श्रेष्ठ शरीर से बढ़ने वाले हे विष्णो ! तुम्हारी महिमा को कोई भी नहीं जान सकता। तुम्हारे दोनों लोक पृथिवी और अन्तरिक्ष को हम जानते हैं। परन्तु हे देव ! तुम तो परमलोक को भी जानते हो। अतः तुम्हारी महिमा को कोई भी नहीं जान सकता ॥ ९ ॥

अतो देवा इत्यस्य कण्वो मेधातिथिः ऋषिः। विष्णुर्देवता। गायत्री छन्दः।

ॐ अतो॑ दे॒वा अ॑वन्तु नो॒ यतो॒ विष्णु॑र्विच॒क्रमे । पृथि॒व्याः स॒प्त धाम॑भिः ॥ (ऋ० १-२२-१६)

विष्णुः = परमेश्वरः। सप्तधामभिः=सप्तभिर्गायत्र्यादिभिः छन्दोभिः साधनभूतैः। यतः = यस्मात्। पृथिव्याः = भूप्रदेशात्। विचक्रमे = विविधं पादक्रमणं कृतवान्। अतः = अस्मात्। पृथिवीप्रदेशात्। नः = अस्मान्। देवाः अवन्तु = रक्षन्तु। विष्णोः पृथिव्यादिलोकेषु छन्दोभिः साधनैर्जयं तैत्तिरीया आमनन्ति। विष्णोस्त्रिविक्रमावतारे पादत्रयक्रमणस्य पृथिव्यापादानाम्। पृथिवीप्रदेशाद् रक्षणं नाम भूर्लोके वर्तमानानां पापनिवारणम् ॥ १० ॥

विष्णु ने सात धामों (पृथिवी अप् तेज वायु आकाश तन्मात्रा और महत्व ये सात धाम हैं) से पृथिवी पर विक्रम किया। उसका पराक्रम चल ही रहा है। अतः नक्षत्रादि तेज लोक तथा अग्न्यादि देवता उस प्रभु की महिमा से सब अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हुए हैं। उस व्यापक देव राम का सामर्थ्य को लेकर सब देव हमारी रक्षा करें ॥ १० ॥

इदमित्यस्य मेधातिथिः ऋषिः। विष्णुर्देवता। भुरिगार्षी गायत्री छन्दः।

ॐ इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम्। समू॑ढमस्य पाꣳसु॒रे स्वाहा॑ ॥ (ऋ० १-२२-१७)

विष्णुः = व्यापकः परमात्मा। वेवेष्टि सर्वं जगदिति विष्णुः। अथवा—सर्वंप्राणिनो हि भूतेन्द्रियमनो जीवभावेन आविशति प्रविशति सर्वं जगदिति विष्णुः= परमेश्वरः। इदम् = जगत्। विचक्रमे = विक्रान्तवान् निर्मितवानित्यर्थः। त्रेधा = त्रिविधं पदं गतिमित्यर्थः। निदधे=स्वकीयं पदं प्रक्षिप्तवान् निहितवान् स्थापितवानित्यर्थः। यद्वा—भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा पदं निहितवान्। यद्वा—अस्य = विष्णोः पदं पद्यते ज्ञायते, इति पदं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरमित्येवं लक्षणम्। स्वरूपम्। समूढम् = दर्शनायोग्यम् गुप्तमित्यर्थः। सम्यगन्तर्भूतं

विश्वमिति शेषः। यथा—जगतः पांसुरे=पांसुले पांसुलमये प्रदेशे पिहितं द्रव्यं दर्शनयोग्यतारहितं भवति तथैव अस्य विष्णोः शरीरं पांसुल इव प्रदेशे निहितं पदं न दृश्यते। यदुक्तम्—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" स्वाहा='सु+आ+हा' तस्मै विष्णवे सुखेनात्मानं जुहोमि समर्पयामीत्यर्थः। पांसुरे=अत्रतु लुप्तोपमा एतत्॥ ११॥

त्रिविक्रम अवतारधारी विष्णु ने इस प्रतीयमान सब जगत् के उद्देश्यकर तीन प्रकार के पाद प्रक्षेपण किया। इनके धूली लगे पैर में ही सम्पूर्ण विश्व का समावेश हो गया॥ ॥ ११ ॥

इस विषय में कविकुल सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

"जबहिं त्रिविक्रम भए खरारी" (चौपाई)

बलिबाँधत प्रभु बाढउ, सो तनु बरनि न जाई।

(श्रीरामचरितमानस का० ४, दो० २९)

त्रीणि पदेत्यस्य मेधातिथिः ऋषिः। विष्णुर्देवता। गायत्री छन्दः।

ॐ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥ (ऋ० १-२२-१८)

विष्णुः अदाभ्यः=केनापि हिंसितुमशक्यः अर्थात्—केनापि पराजेतुं न शक्यते। गोपाः=सर्वस्य जगतो रक्षकः। विष्णुः=व्यापकः। पृथिव्यादिस्थानेषु। अत=एव एतेषु त्रीणि पदानि। विचक्रमे=आक्रान्तवान् इत्यर्थः। किं कुर्वन् धर्माणि=अग्निहोत्रादीनि। धारयन्=पोषयन्। समस्तस्य जगतः, गोपा=गोपायिता रक्षक इत्यर्थः॥ १२॥

यह व्यापक प्रभु किसी से भी धोखा न खाने वाले अर्थात्—किसी से पराजित न होने वाले। प्रत्येक वस्तुओं में विद्यमान है, सब धारण-पोषण रक्षक और तीन पैर से समस्त जगत् को नाप लिया। ऐसे उनके सामर्थ्य को जानो॥ १२॥

विष्णोःकर्माणीत्यस्य मेधातिथिः कण्वः ऋषिः। विष्णुर्देवता। गायत्री छन्दः।

ॐ विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ (ऋ० १-२२-१९)

हे ऋत्विगादयः! विष्णोः कर्माणि=पालनादीनि। पश्यतः=अवलोकयतः। यतः=यैः कर्मभिः। व्रतानि अग्निहोत्रादीनि। पस्पशे=सर्वो यजमानः स्पृष्टवान्।

विष्णोरनुग्रहादनुतिष्ठतीत्यर्थः। तादृशो विष्णुः। इन्द्रस्य युज्यः=योज्योऽनुकूलः सखा भवति ॥ १३ ॥

विष्णु के कार्य को देखो। जिनके आश्रय से ही मनुष्य के सब कार्य चलते हैं। यह इन्द्र का योग्य सखा और व्यापक प्रभु जीव का मित्र है ॥ १३ ॥

तद्विष्णोः इत्यस्य मेधातिथिः कण्वऋषिः। अश्विनीप्रभृतिदेवता। गायत्री छन्दः।

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋ० १-२२-२०)

सूरयः = विद्वांसः ऋत्विगादयः विष्णोः संबन्धि परमम्=उत्कृष्टम्। तत्=शास्त्रप्रसिद्धम्। पदम्=साकेतं वैकुण्ठम् स्वर्गस्थानम् इत्यर्थः। शास्त्रदृष्ट्या सर्वदा पश्यन्ति। तत्र दृष्टान्तः। दिवीव=आकाशे यथा आततम्=सर्वतः प्रसृतम्। चक्षुः=निरोधाभावेन विशदं पश्यति तद्वत् ॥ १४ ॥

इस व्यापक परमात्मा श्रीराम का परम स्थान दिव्यलोक में है। जैसे—आकाश में प्रकाशित हुए सूर्य को मनुष्य देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी जन अपने हृदय में सदा उन्हें देखते हैं। प्रत्येक वस्तु में उनके कार्य को प्रत्यक्ष स्पष्टता के साथ देखते हैं ॥ १४ ॥

तद्विप्रास इत्यस्य मेधातिथिः कण्वः ऋषिः। अश्विनीप्रभृतिदेवता। गायत्रीछन्दः।

ॐ तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ (ऋ० १-२२-२१)

पूर्वोक्तं विष्णोः यत् परमं पदमस्ति। तत् पदं विप्रासः=मेधाविनः। समिन्धते=सम्यग्दीपयन्ति कीदृशाः। विपन्यवः=विशेषेण स्तोतारः। जागृवांसः=शब्दार्थयोः प्रमादराहित्येन जागरूकाः इत्यर्थः ॥ १५ ॥

उन व्यापक प्रभु राम का वह स्थान है, जो कर्मकुशल ज्ञानीजन जागने वाले हैं, वे सदा प्रकाशित अग्नि के समान सर्वत्र प्रकाशित रूप में उन्हें देखते हैं ॥ १५ ॥

श्रियः कमलवासिन्या रमणोऽयं महाप्रभुः।
तस्माच्छ्रीराम इत्यस्य नाम सिद्धं पुरातनम् ॥

सहस्रनाम्नां श्रीशस्य तुल्यं मुक्तिप्रदं नृणाम् ।
विष्णुमासि समुत्पन्नो विष्णुरित्यभिधीयते ॥
(पद्मपुराण उत्तरखण्ड २६९–७४–७५)

यह महाप्रभु कमल में निवास करने वाली श्री देवी के साथ रमण करने वाले हैं। इसलिये इनका पुरातन पावन नाम श्रीराम स्वतः सिद्ध है। यह 'राम' एक नाम विष्णु के सहस्र नाम के तुल्य है, एवं मनुष्यों के मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। विष्णुमासि = चैत्रमास विष्णु का मास है। अतः चैत्रमास में प्रकट होने के कारण ही श्रीराम जी विष्णु कहे जाते हैं।

श्रीसीतारामसमर्पणमस्तु
श्रीरामनारायणदासशास्त्रिणा, पंचसूक्तस्य सिद्धान्तदीपिका
संस्कृत-हिन्दीव्याख्या समाप्ता ।

अथ लक्ष्मीसूक्तानुष्ठानविधिः

ॐ हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्चस्य सूक्तस्य आनन्दकर्दमचिक्लीतेन्दिरासुता ऋषयः "हिरण्यवर्णामि"त्यादीनां तिसृणाम् ऋचाम् अनुष्टुप्छन्दः "कांसोस्मितामि-त्यादि" ऋचां बृहतीछन्दः। "चन्द्रां" "आदित्यवर्णे" द्वे ऋचे त्रिष्टुप्छन्दः "उपैतु मामि"त्यादितः, "आर्द्रां, यः" पर्यन्तानामष्टऋचाम् अनुष्टुच्छन्दः। शेषऋचां प्रस्तारपंक्तिच्छन्दांसि सन्ति।

जातवेदा देवता। हिरण्यवर्णामिति बीजम्। कांसोस्मितामिति शक्तिः। कीर्तिं-मृद्धिं ददातु इति कीलकम्। मम श्रीमहालक्ष्मीप्रसादसिद्ध्यर्थे पाठे च विनियोगः।

ॐ श्रीमिति बीजाभ्यां जलेन त्रिवारं करशुद्धिं कुर्यात्।

अंगन्यासः—हिरण्यवर्णामिति शिरसि, तां म आवह इति नेत्रयोः, अश्वपूर्वामिति कर्णयोः, कांसोऽस्मितामिति नासिकायां, चन्द्रां प्रभासामिति मुखे, आदित्यवर्णे-इति कण्ठे, उपैतुमामिति बाह्वोः, क्षुत्पिपासामिति हृदये, गन्धद्वारामिति नाभौ, मनसः काममिति गुह्ये, कर्दमेनेति पायौ, आपः सृजन्तु इत्यूर्वोः, आर्द्रां पुष्करिणीमिति जान्वोः, आर्द्रां यः करिणीमितिपादयोः। यः शुचिः प्रयतोभूत्वा" इति सर्वाङ्गे। जलेन हस्तौ प्रक्षालयेत् ॐ इत्यस्य विशेषणं प्रतिन्यासं योजयेत्।

करन्यासः—हिरण्यवर्णायै अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, हरिण्यै तर्जनीभ्यां नमः, सुवर्ण-रजतस्रजायै मध्यमाभ्यां नमः, चन्द्रायै अनामिकाभ्यां नमः, हिरण्मय्यै कनिष्ठि-काभ्यां नमः, लक्ष्म्यै करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

हृदयादिन्यासः—ॐ हिरण्यवर्णायै नमः हृदयाय नमः, ॐ हरिण्यै नमः शिरसे स्वाहा, ॐ सुवर्णरजतस्रजायै नमः शिखायै वषट्, ॐ चन्द्रायै नमः कवचाय हुम्, ॐ हिरण्मय्यै नमः नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ लक्ष्म्यै नमः अस्त्राय फट्। एवं न्यासं कृत्वा ॐ भूर्भुवः स्वरोमिति दिग्बन्धः।

अथ ध्यानम्—

अरुणकमलसंस्था तद्रजःपुञ्जवर्णा, करकमलधृतेष्टाभीतियुग्माम्बुजाता।
मणिमुकुटविचित्रालंकृतिः पद्ममाल्या, भवतु भुवनमाता सन्ततं श्रीः श्रियै नः॥

प्रयोगविधिः—यःश्रीकामः पुरुषः स शुचिर्बाह्याभ्यन्तःकरणैः शुद्धः सन् तथा प्रयतो जितेन्द्रियो नियमतत्परश्च भूत्वा सततं सङ्कल्पदिनात्प्रभृतिपञ्चदशाब्देषु प्रत्यहं स्वशाखा उक्तविधिना एनमग्निं संस्कृत्य श्रीसूक्तस्य पञ्चदश ऋग्भिः, पञ्चदशा-ज्याहुतीर्हुत्वा ततः परं श्रियः पञ्चदश ऋचं साकल्येन एकवारं पठेत्। यथाशक्ति

अखण्डपारायणं कुर्यात्। अथवा पञ्च दशवारम् अखण्डपरायणं कृत्वा तत एकैकामृचां विधिवत् यथासंख्यं जपेत्। तदशक्तौ लौकिकेऽग्नावपि पञ्चदशऋग्भिः प्रत्यहं पञ्चदशाज्याहुतीर्हुत्वा पञ्चदशवारं श्रीसूक्तं जपेत्।

तस्य श्रीकामस्यास्मिन्नेव जन्मनि महती श्रीप्राप्तिर्भविष्यतीति पृथ्वीधरेण भाष्यकृता विज्ञाप्यते। विधिवद् अनुष्ठानासमर्थस्य तु छायामात्रं वा यथायोग्यं फलं भवत्येव। प्रतिबन्धकबाहुल्ये तु जन्मान्तरे फलानुभवो भविष्यतीति सिद्धान्तः।

यदुक्तं मंत्ररहस्ये—

"अधिकारी यथादेशे यथाकाले यथामनुः। यादृग्विधानसन्धानः प्रजपेत् तादृशं फलम्॥
कालदेशक्रियारूपाद्यनुरूपं लभेन्नरः। प्रत्युत्कटेन पुण्येन तस्मिन्नेव च जन्मनि॥
तत्फलं प्राप्नुयात्सिद्धौ नात्र कार्या विचारणा। न देवतोषणं व्यर्थं भविष्यति कदाचन॥
तस्मान्मंत्रं जपेद् योगी यतः शुद्धेन्द्रियक्रियः" ॥ इति ॥

श्रीसूक्तपुरुषसूक्तहोमप्रयोगः—

आचम्य प्राणानायम्य सङ्कल्प्य मम गृहे पञ्चसूनाजनितदोषपरिहारपूर्वकं दशविधलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं प्राप्तलक्ष्मीस्थिरीकरणार्थमलक्ष्मीनाशार्थं शाकलतंत्रोक्तपञ्चमहायज्ञसमवेतं पुरुषसूक्तश्रीसूक्तहोममग्न्युपस्थानं पुरुषसूक्तपूर्वकं श्रीसूक्तजपम् आयुष्यकरणं क्षमापनं विसर्जनकर्मार्पणं च करिष्ये।

तंत्रोक्तहवनमंत्रः—

ॐ ओं ह्रीं क्रों ऐं श्रीं क्लीं सौं रं वं श्रीं नमो भगवत्यै महालक्ष्म्यै स्वाहा।

इस मंत्र से दस हजार हवन एवं दस हजार जप भी करे।

जपमंत्रः—

ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीमहालक्ष्म्यै नमः।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या, सर्वोपकारकरणाय सदाऽर्द्रचित्ता॥

संपुटविधिः—

ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं क्लीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः। ॐ दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि। ॐ हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्। चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह॥ दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या, सर्वोपकारकरणाय सदाऽर्द्रचित्ता।

इसी प्रकार प्रत्येक मंत्रों के साथ साथ संपुट लगाकर १६ पाठ प्रतिदिन करने से ४८ दिन में लक्ष्मी की प्राप्ति होगी। अथवा—बिल्व वृक्ष के नीचे, घी चीनी (शक्कर) बेल के गूदे को मिलाकर १०८ बार नित्य त्रिकाल हवन करे।

नित्यत्रिकाल १६ तियाँ ४८ पाठ दैनिक ६ मास तक करे तथा प्रत्येक शुक्रवार के दिन ११६ बार हवन करे तो धनादिक का लाभ अवश्य हो इस प्रकार सहस्रदिन तक प्रयोग करे। अथवा १०० दिन तक, ७१ दिन तक, ४८ दिन तक पाठ और हवन नित्य करने से अवश्य ही धनप्राप्ति होगी।

मन्त्रकल्याणवे अनुष्ठानविधिः—

श्रीं ह्रीं क्लीं इति विन्यस्य हिरण्यप्रतिमां यजेत्।
लक्ष्मीं संपूज्य हारिद्रचूर्णसौवर्णपङ्कजैः॥
राजतैः पुण्डरीकैश्च पूजयेद् गाः सुवासिनीः।
पूर्णेन्दौ पूर्णकुम्भे वा ध्यात्वा नारायणीं पराम्॥
प्राप्याक्षमालां सौवर्णी कमलासनसंस्थितः।
ऋचन्तु प्रजपेदाद्यां प्रत्यहं त्रिसहस्रकम्॥
त्रिसन्ध्यमेवं लक्षान्ते क्षीरस्युततर्पणम्।
सहस्रमाज्यहोमञ्च शतं ब्राह्मणभोजनम्॥
सुवासिनीनां दशकं सालङ्कारमथार्चयेत्।
एकां धेनुं सवत्सां च श्रोत्रियाय प्रदापयेत्॥
इत्थमक्षरलक्षान्तं योजयेन्नियतव्रतः।
हिरण्यपूर्णस्तेजस्वी धनाढ्यो भोगभाग्यवान्॥
जीवेच्चिरं शरीरान्ते चन्द्रसायुज्यमाप्नुयात्॥

मूलमंत्रः—

ॐ ऐं हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह॥
ॐ ऐं स्वाहा॥ १॥

ऋचं द्वितीयां श्रीसूक्तं प्रतिसार्यं सहस्रकम्।
प्रजपेन्नियताहारः प्रत्यक्षरसहस्रकम्॥
त्रयस्त्रिंशद्दिने रात्रौ स्वप्ने लक्ष्मीः प्रसीदति।
शान्तिकर्मादिकं सर्वं प्रागुक्तवदुपचारेत्॥
अविघ्नेन जपन्सिद्धयेद् यदि लक्ष्मीप्रसादतः।
अनपायां श्रियं याति हिरण्यं गोनरादिकान्॥

मूलमंत्रः—

ॐ ह्रीं तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्॥ ॐ ह्रीं स्वाहा॥ २॥

अनुष्ठानविधिः—

श्रीसूक्ते तु तृतीयर्चं श्रीबीजेन समापकम्।
न्यासं कृत्वा जपेन्नित्यं प्रातः प्रातः सहस्रकम्॥
आद्वादशाब्दात्सिद्धिः स्याद् अन्यद् दुर्गाविधानवत्।
मंत्रसिद्धौ भवेद् राजा शत्रूञ्जित्वा लभेच्छ्रियम्॥

मूलमंत्रः—

ॐ श्रीं अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम्।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मादेवी जुषताम्॥ ॐ श्रीं स्वाहा॥ ३॥

अनुष्ठानरत्नाकरे—

ऋचं चतुर्थीं श्रीसूक्ते प्रजपेदष्ट लक्षकम्।
सहस्रं प्रत्यहं जप्त्वा त्रिसाहस्रं भृगोर्दिने॥
राकायां पंचसाहस्रं क्षीराहारो जितेन्द्रियः।
पलाशसमिधा होमः पयसा गोघृतेन च॥
तर्पणाशीतिसाहस्रं होमश्चाष्टसहस्रकः।
ब्राह्मणाष्टशती पूज्या श्रीवाग्बीजन्तु विन्यसेत्॥
सम्यक्सारस्वतप्राप्तिर्भविष्यति न संशयः।
आपंचपुरुषं सद्धिर्नात्र कार्या विचारणा॥

ॐ श्रीं ऐं इति पल्लवन्यासः

मूलमंत्रः—

ॐ क्लीं कांसोस्मि तां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम्॥ ॐ क्लीं स्वाहा॥ ४॥

अनुष्ठानं भागधेयभूषणे—

श्रीसूक्ते प्रथमे वर्गे प्रजपेत् पंचमीं ऋचम्।
मायाबीजेन विन्यस्य भक्तितो भुवनेश्वरीम्॥
अक्षीणभासां चन्द्राख्यां ज्वलन्तीं यशसा श्रियम्।
देवैर्जुष्टामुदाराञ्च पद्मिनीमीं भजाम्यहम्॥
त्वां वृणे त्वत्प्रसादेन ममालक्ष्मीर्विनश्यतु।
प्रत्यहं चैकसाहस्रं गोष्ठस्थः प्रजपेद् ऋचम्॥
अखण्डदीपं प्रज्वाल्य गोघृतेन जितेन्द्रियः।
प्रत्यक्षरं त्रिसाहस्रजपान्मुच्येत संकटात्॥
मण्डलैश्च त्रिभिः पूर्णैर्दारिद्र्यान्मुच्यते ध्रुवम्।
कमलैरर्चयेद् देवीं गोभ्यो घासं प्रदापयेत्॥

एतत्पुण्यप्रभावेण दरिद्रोऽपि धनी भवेत्।
ह्रीं इत्यादि षडङ्गन्यासः।

मूलमंत्रः—

ॐ 'वद वद'—चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्। तां पद्मिनीमीं शरणमहं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे॥ ॐ वद वद स्वाहा॥५॥

अनुष्ठानं सौभाग्यसंजीवने—

द्वितीयवर्गे प्रथमामृचं जपेत् प्रीणाति बाला तरुणारुणश्रीः।
यस्यास्तपो योगबलेन बिल्वफलान्यलक्ष्मीं शमयन्ति नृणाम्॥
तनुमध्यां महालक्ष्मीं बालां त्रिपुरसुन्दरीम्।
त्रिबिल्वपत्रैः संपूज्य सहस्रं प्रजपेद् ऋचम्॥

ऐं क्लीं सौं ऐं ह्रीं श्रीं इति बीजषट्कमनेन न्यासं कुर्यात्।

मूलमंत्रः—

ॐ वाग्वादिनी—आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः। तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः॥ ॐ वाग्वादिनी स्वाहा'॥ ६॥

अनुष्ठानविधिः—

अनुष्टुभर्चं श्रीसूक्ते सप्तमीं प्रजपेद् बुधः।
द्वात्रिंशल्लक्षपर्याप्तौ सिद्धिं प्राप्नोति नान्यथा॥
कुबेराद्यास्तस्य देवाः प्रत्यक्षाः स्युर्न संशयः।

मूलमंत्रः—

ॐ ऐं उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे॥

ॐ ऐं स्वाहा॥ ७॥

अनुष्ठानविधिः लक्ष्मीयामले—

प्रजपेद् विधिना नित्यं श्रीसूक्ते चर्चमष्टमीम्।
प्रत्यक्षरसहस्रं च गायत्रीमपि तावतीम्॥
श्रीगायत्रीदशांशं तु लक्ष्मीमंत्रशतांशकम्।
अनिष्टपरिहारार्थो मंत्रोऽयं परिकीर्तितः॥
दुर्भाग्यं शमयेद् दैवदुर्लिपिं परिमार्जयेत्।
फलाशी प्रजपेन्मंत्रं भक्त्या रुद्राक्षमालया॥
शेषं तंत्रे द्रष्टव्यम् इति।

मूलमंत्रः—

ॐ सौं क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्। अभूतिमसमृद्धिं च सर्वान्निर्णुद मे गृहात्॥ ॐ सौं स्वाहा॥ ८॥

वैखानसविद्यायाम्—

ऋचामनुष्टुभो गन्धद्वारामिति जपेच्छ्रियः।
षष्ट्युत्तरशतानां तु सहस्राणां च संख्यया॥
पद्माक्षमालया पद्मासनस्थः सह पार्थिवम्।
बीजं विन्यस्य मंत्रेण श्रीबीजेन च तज्जपेत्॥

मूलमंत्रः—

ॐ हँ सः—गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्। ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्॥ ॐ हं सः स्वाहा॥ ९॥

अनुष्ठानविधिः मंत्रकल्यार्णवे—

मनसः काममित्याद्यां श्रीसूक्ते दशमीमृचम्।
मनोवाङ्नियतो नित्यमष्टलक्षजपञ्चरेत्॥
वाक्सिद्धिर्योगसिद्धिश्च भोग्यलाभो भवेद् ध्रुवम्।

मूलमंत्रः—

ॐ आं मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि। पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः॥ ॐ आं स्वाहा॥ १०॥

अनुष्ठानविधिः मंत्रकल्यार्णवे :—

कर्दमेनेत्यादिकां तु श्रीसूक्तैकादशीमृचम्।
गावं सवत्सां संपूज्य जपेद्चरलक्षकम्॥

(इति पुत्रप्राप्तिः)

मूलमंत्रः—

ॐ ह्रीं कर्दमेन प्रजा भूता मयि संभव कर्दम। श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम्॥ ॐ ह्रीं स्वाहा॥ ११॥

ॐ क्रौं आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे। निच देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले॥ ॐ क्रौं स्वाहा॥ १२॥

(इति लक्ष्मीप्रार्थना)

ॐ क्लीं आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिंगलां पद्ममालिनीम्। चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह॥ ॐ क्लीं स्वाहा॥ १३॥

ॐ श्रीं आर्द्रां यः करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥
ॐ श्रीं स्वाहा ॥ १४ ॥

ॐ ह्रूँ तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् । यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् ॥ ॐ ह्रूँ स्वाहा ॥ १५ ॥

ॐ ह्रूँ ॐ स्वाहा ॐ ह्रूँ ॐ ऐं यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् । श्रियं पंचदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् ॥ ॐ ह्रूँ ॐ ऐं स्वाहा ॥ १६ ॥

परिशिष्टम्

यजुर्वेद पाठ करने की कुछ विधि—

मूलवेद पाठ का अभ्यास संहितापाठ, पदपाठ तथा क्रमपाठ के तीन रूपों में किया जाता था।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा है, कि :—

> कालिन्दी संहिता ज्ञेया पदयुक्ता सरस्वती।
> क्रमेण वर्तते गङ्गा शम्भोर्वाणी तु नान्यथा॥

अर्थात्—संहितापाठ यमुना है, पदपाठ सरस्वती है और क्रमपाठ श्री गङ्गा जी हैं, यह सम्भु की वाणी है, अन्यथा नहीं।

संहितापाठ में मन्त्र को पूरा पढ़ा जाता है, पदपाठ में प्रत्येक मन्त्र का प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् कर पढ़ा जाता है और क्रमपाठ में दो-दो पद क्रम के साथ-साथ मिलकर पढ़े जाते हैं। इस प्रकार इन तीन प्रकार के पाठों से पदों में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता।

प्रकृति रूप में इन तीनों प्रकार के पाठों का अभ्यास करने के बाद, आठ विकृतियों में पाठ किया जाता है यथा—आठ विकृतियाँ :—

> जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
> अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, पुष्पमाला, क्रममालापाठ, शिखापाठ, रेखापाठ, ध्वजपाठ, दण्डक्रमपाठ, द्विपदरथपाठ और घनपाठ, इतने पाठ करने का भेद महर्षियों ने कहा है।

१—संहिता—"पूर्वेणोत्तरः सꣳहितः"। पूर्वेण पदान्तेन उत्तरः पदादिसंहितो यदा क्रियते स्वरतो वर्णतश्च संहितोच्यते। यथा—इषेत्वा। त्वोर्ज्जे। इत्यादि।

मंत्रों का प्रकृत उपलब्ध पाठ ही "संहिता" कहलाता है।

"वर्णानामेकप्राणयोगः सꣳहिता" वर्णानामेकोच्छ्वासोच्चारणयोगे पदे वाक्ये वा विश्रामः सा च प्राणसंहिता। (प्रातिशाख्ये १५७)

संहितापाठ प्रत्येक पद को विच्छेदपूर्वक पढ़ना ही "पदपाठ" कहलाता है।

२—पद = पदमधीयते पदकः।

"पदविच्छेदोऽसꣳहितः" (श. श. २-१५६)

२–क्रम = क्रमसंहितेयम् । "पदविच्छेदोऽसंहितः" पदे पदे विच्छेदः पदविच्छेदो यदा क्रियते । अहितः पदपाठः, यथा—इषे । त्वा । ऊर्जे । त्वा । इत्यादि ।

पद के दो दो पदों का "पाठक्रम" कहलाता है ।

"द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानादपृक्तवर्जम्" (प्रा. शा. ४–१८२)

संहिता पद और क्रम ये तीनों प्रकृति स्वरूप हैं ।

अपृक्तवर्जम् = "एकवर्णं पदमपृक्तम्" एकवर्णस्यापृक्तसंज्ञा भवति । यथा—आ । इ । उ ।

इत्यादि में अपृक्त संज्ञा हुई । इनके पढ़ने का फल महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार कहा है—

संहिता नयते सूर्यपदं च शशिनः पदम् । क्रमश्च नयते सूक्ष्मं यत्तत्पदमनामयम् ॥

(या० शिक्षा)

संहितापाठ सूर्यलोक को ले जाता है, पदपाठ चन्द्रलोक को, और क्रमपाठ सूक्ष्म अनामय पद को ले जाता है । उपर्युक्त अष्ट विकृतियों का क्रम ही प्रकृति है । "क्रमपूर्वा महर्षिभिः" सभी प्रकृतियों में क्रम पूर्व में होता है ।

जटा का लक्षण—

क्रमं यथोक्तं प्रब्रूयाद् व्युत्क्रमेण क्रमेण च ।
सलक्षणं सर्वसन्धौ जटा सा प्रोच्यते बुधैः ॥

यथोक्त क्रम दो या तीन अथवा चतुष्क्रमात्मक को अनुलोम-विलोम एवं पुनश्च अनुलोम सन्धियुक्त अविराम पाठ करना ही 'जटापाठ' कहलाता है । उदाहरण–

सहस्रशीर्षा पुरुषः पुरुषः सहस्रशीर्षासहस्रशीर्षा पुरुषः ॥

सहस्रशीर्षेतिसहस्र शीर्षा ।

माला—

माला दो प्रकार की होती है । पुष्पमाला और क्रममाला । वर्तमान समय में केवल पुष्पमाला ही प्रचलित है । यद्यपि क्रममाला का भी पाठ वैदिक करते हैं, परन्तु बहुत कम ।

पुष्पमाला—

माला मालेव पुष्पाणां पदानां ग्रन्थिनी हि सा ।
आवर्तन्ते त्रयस्तस्यां क्रमव्युत्क्रमसंक्रमाः ॥

जिस प्रकार पुष्पों की माला आपस में गुथी हुई होती है, उसी प्रकार पद भी

आपस में एक दूसरे से गुथे हुए होने पर भी "माला" नाम की विकृति कहलाती है। उस माला नामक विकृति में जटा में कहे हुए पांच क्रम में से तीन ही "क्रम-व्युत्क्रम-संक्रम" इसमें पढ़े जायेंगे। उदाहरण—

यज्ञेन यज्ञम् । यज्ञं यज्ञेन । यज्ञेन यज्ञम् ।
यज्ञमयजन्त । अयजन्त यज्ञम् । यज्ञ-
मयजन्त । अयजन्त देवाः । इत्यादि

क्रममाला—

ब्रूयात् क्रमविपर्यासावर्धर्चस्यादितोऽन्ततः ।
अन्तं चादि नयेदेवं क्रममालेति गीयते ॥

आधी ऋचा को आदि से क्रम युक्त एवं अर्धर्चा के अन्त से विपर्यास करते हुए पढ़े। इसी प्रकार क्रम को अन्त तक ले जाय तथा विपर्यास (उल्टा) को आदि तक ले आवे। वह क्रम माला कहलाती है। उदाहरण—

यत्पुरुषेण । अतन्वतेत्यतन्वत ।
पुरुषेण हविषा । अतन्वत यज्ञम् ।
हविषा देवाः । यज्ञन्देवाः ।
देवा यज्ञम् । देवा हविषा ।
यज्ञमतन्वत । हविषा पुरुषेण ।
अतन्वतेत्यतन्वत । पुरुषेण यत् । इत्यादि ।

शिखालक्षण—

पदोत्तरां जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते ।

विकृतियों में सर्वप्रथम कही हुई 'जटा' नामक विकृति का पाठकर अन्त में एक पद अग्रिम का उच्चारण करना ही 'शिखा' विकृति कहलाती है। उदाहरण—

चन्द्रमा मनसो मनसश्चन्द्रमा ।
चन्द्रमा मनसो जातः ।
मनसो जातः जातो मनसो
मनसो जातश्चक्षोः । इत्यादि

घन—

घन भी दो प्रकार का है। तथापि इसमें भी एक ही वर्तमान समय में अत्यधिक वैदिक समाज में प्रचलित है।

घनलक्षण—

शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत्। अयं घन इति प्रोक्तः।

पूर्व में कही हुई 'शिखा' नामक विकृति का उच्चारण कर फिर उन्हीं 'शिखा' के पदों को विपर्यासकर (उल्टाकर) एवं पुनः क्रम से उन्हीं पदों को "शिखावत्" कहने से 'घन' नामक विकृति विशेष कहलाती है। उदाहरण—

सहस्रशीर्षा पुरुषः पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्राक्षः पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः। सहस्रशीर्षेति सहस्र। शीर्षा।

पुरुषः सहस्राक्षः सहस्राक्षः पुरुषः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्सहस्रपात्सहस्राक्षः पुरुषः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

सहस्राक्षः सहस्रपात्सहस्रपात्सहस्राक्षः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सहस्राक्षऽइति सहस्र। अक्षः। सहस्रपादिति सहस्र पात्। इत्यादि।

नोट—जटा में दो पदों की तीन-तीन आवृत्ति करे। कुल ६ हैं। जैसे—

वायवं स्थ स्थ वायवो वायवं स्थ।

इसी प्रकार शिखा में भी जटा उक्त पदों की आवृत्ति कर अग्रिम पद जोड़ दे। कुल ७ हैं। जैसे—

वायवं स्थ स्थ वायवो वायवं स्थ देवः॥

तीन पदों का घन होता है। उसमें प्रथम एवं द्वितीय पदों की आवृत्ति पाँच पाँच बार तथा तृतीय पद की ३ बार आवृत्ति होती है। कुल १३ है। जैसे—

प्रजापतिश्चरति चरति प्रजापतिः

प्रजापतिश्चरति गर्भे गर्भे चरति

प्रजापतिः प्रजापतिश्चरति गर्भे॥

यजुर्वेद उच्चारण करने के लिये कुछ व्याकरण और स्वर चिह्न—

वेद की ऋचाओं खड़ी और आड़ी रेखायें देकर उनके अनुसार उन अक्षरों के उच्च (ऊँच) मध्यम और मन्द स्वर में बोलने के नियम बनाये गये हैं। इनको स्वर कहा जाता है। इनमें तीन प्रकार का भेद है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। परन्तु इनमें भी प्रत्येक स्वर अधिक जोर से अथवा न्यून रूप में बोला जा सकता है। अतः प्रत्येक के दो-दो भेद हो जाते हैं। जैसे—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरिततर, इनके अतिरिक्त एक स्वर (एक श्रुति) और भी माना जाता है। सब मिलकर सात स्वर होते हैं। स्वरों के विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी लिखा है :—स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामोदारुण्यमणुता स्वरस्य उच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामः = गात्राणां निग्रह, दारुण्यम् = स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता=कण्ठस्य संवृता, उच्चैः कराणि शब्दस्य अन्वव सर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवम् स्वरस्य मृदुता। स्निग्धता, उरुता स्वरस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैः कराणि शब्दस्य।

त्रैस्वर्य्येणाधीमहि, त्रिप्रकारैरज्भिरभिरधीमहि कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्त-गुणैः कैश्चिदुभयगुणैः : तद् यथा शुक्लगुणः, शुक्लः, कृष्णगुणः, कृष्ण, य इदानी-मुभयगुणः स तृतीयाख्यं लभते, कल्मष इति वा सारङ्ग इति वा।

जो दूसरे की सहायता के बिना ही स्वयं प्रकाशमान अथवा प्रकट हैं, वे स्वर कहे जाते हैं। अङ्गों का रोकना या वाणी को रूखा करना अथवा उच्च स्वर से बोलना, कण्ठ को भी कुछ रोकना, उदात्त स्वर इन्हीं नियमों अनुकूल ही बोला जाता है इसलिये उदात्त कहा जाता है।

अनुदात्त—इसमें शरीर के अङ्गों का या गात्र का ढीलापन करना स्वर को कोमलता, कण्ठ को फैला देना इत्यादि अनुदात्त स्वर से बोले जाते हैं।

उदात्त और अनुदात्त जहाँ दोनों धर्म मिले हों वहाँ स्वरित हो जाता है। जैसे—लकड़ी और लाक्षा (लाख) का जोड़ (संमिश्रण) दोनों अलग-अलग अनुभव किये जा सकते हैं। वैसे ही स्वरित में होते हैं।

एक स्वर (एक श्रुति) में भी उदात्त और अनुदात्त का संमिश्रण होता है परन्तु एक श्रुति में दूध और पानी की तरह होता है। इसको अनुभव नहीं किया जा सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में स्वरों के अट्ठारह भेद लिखे हैं। प्रारम्भिककाल में वेदपाठी स्पष्ट रूप से उच्चारण करते थे। परन्तु ध्वनि में परिवर्तन होने के कारण कुछ काल के लिये स्वरों की संख्या सात कर दी गई थी।

जब लोग इसको भी उच्चारण करने में असमर्थ हो गये तब घटते-घटते तीन ही स्वर रह गये। किन्तु वर्तमान समय में इनको भी शुद्ध रूप से उच्चारण नहीं कर सकते, इस लिये अब इस समय हाथ को ऊपर नीचे करके ही स्वरों का बोध कराया जाता है।

उदात्तश्चानुदात्तस्वरितश्च तथैव च इमे स्वराः। प्रसन्नमनसो भूत्वा किञ्चित् नम्रमधोमुखम्। प्रणवं प्राक्प्रयुञ्जीत व्याहृती तदनन्तरम्॥ सावित्रीं चानुपूर्व्या ततो वेदान् समारभेत।

एकश्रुति:—

"स्वरितात्परमनुदात्तमुदात्तमेकमनेकं वा प्रचयः" अथवा—"स्वरितात्परोऽनाङ्कित एकश्रुतिः"

उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरों की अत्यन्त सन्निकर्षता (सामीप्य) को एकश्रुति कहते हैं। (महाभाष्य १-२-३२। एकश्रुति को उदात्तश्रुति मानते हैं। कोई कोई एकश्रुति को अनुदात्तश्रुति मानते हैं।)

अथवा—स्वरित से परे जिस अक्षर पर या स्वरित से परे जिन जिन अक्षरों पर कोई चिह्न न हो तो उनको एकश्रुति कहते हैं। इसी को प्रचय स्वर भी कहते हैं। क्योंकि एकश्रुति सर्वदा स्वरित के पश्चात् ही होती है (तानः प्रचितः प्रचः निचीतः उदात्तमयः एकस्वर :—ये पर्यायवाचक शब्द हैं)। जैसे—"हवामहे" यहाँ पर वैदिकजन एकश्रुति या प्रचय स्वर कहते हैं।

(क) "उच्चैरुदात्तः" (पाणिनिसूत्र)

ताल्वादि स्थानों में ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न अच् को उदात्तसंज्ञा है।

जैसे—"आ ये मित्रावरुणा" यहाँ पर 'अ' उदात्त है।

"अपूर्वोऽनुदात्तपूर्वो वाऽनाङ्कित उदात्तः"

जिसके पूर्व कोई स्वरचिह्न न हो अथवा अनुदात्त पूर्व में हो ऐसा चिह्न रहित अक्षर उदात्त स्वर होता है। जैसे—अपूर्व = अग्ने यं यज्ञमध्वरम्। यहाँ पर "अ" उदात्त है अनुदात्तपूर्व = "यं ज्ञ" यहाँ ये दोनों उदात्त हैं।

यदि मंत्र का आरम्भ उदात्त से प्रारम्भ होता हो और आगे स्वरित है

तो कर्ण (कान) के पास से हाथ मध्य में आयेगा। क्योंकि उदात्त का स्थान कर्ण के पास है। यदि उदात्त से परे अनुदात्त हो तो वाम भाग से मंत्र प्रारम्भ होता है। (मूर्ध्नि वामे चोपर्युदात्तः इति नियमः) जैसे—स्वरित परे होने पर उदात्त है = ततो॑ वि॒राड॑। इत्यादि मूर्ध्नि। अनुदात्तपरे उदात्त है = स जा॒तोऽअ॑त्य॑ इत्यादि वामभागे।

(ख) "नीचैरनुदात्तः" (पाणिनिसूत्र)

तात्वादि स्थानों में अधोभाग से निष्पन्न अच् को अनुदात्त संज्ञा होती है।

ग॒णानां॑ त्वा यहाँ 'ग॒' अनुदात्त है।

"अधोरेखयाऽनुदात्तः"

अक्षर के नीचे पड़ी रेखा से अनुदात्त स्वर का चिह्न होता है। जैसे—अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्। यहाँ "अ॒, पु॒" अनुदात्त स्वर है।

"हृदि दक्षिणेऽधश्चानुदात्तः"

अनुदात्त का स्थान हृदय के पास है। अतः जिस अक्षर के नीचे रेखा हो, वह हृदय के समीप से प्रारम्भ होता है। जैसे—गा॒य॒त्री ।···इत्यादि

"अनुदात्तादनुदात्ते परे ह्युदात्तो वामे भागे गच्छत्यनुदात्तस्तु दक्षिणे भागे।

अनुदात्त से अनुदात्त परे होने पर उदात्त वाम भाग और अनुदात्त दक्षिण भाग। अर्थात् हाथ को दांये बांये घूमावे। जैसे—त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्। इत्यादि में दायें और बायें दायें घूमावे।

(ग) "समाहारः स्वरितः" (पाणिनिसूत्र।)

उदात्त और अनुदात्त जहाँ दोनों धर्म मिले हों, वहाँ स्वरित संज्ञा होती है।

"ऊर्ध्वरेखया स्वरितः"

अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा से स्वरित स्वर होता है। जैसे—अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्। "मी॑ हि॑" ये दोनों स्वरित हैं।

श्रुतिमूलात्पतितः स्वरितः। स्वरितस्तूपरिष्ठात् मध्ये पतिष्यति। अनुदात्ता-स्स्वरिते परेऽनुदात्तः नीचैर्गमिष्यति। उदात्तोपरि गमिष्यति इति भावः।

"अनुदात्तात् पराजात्यक्षैप्र प्रश्लिष्टाभिनिहिता अधो वक्ररेखा।"

यकार वकार सहित अनुदात्त से परे जाति स्वर होता है। जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष, (प्रश्लिष्ट) और अभिनिहित स्वरित का निर्देश नीचे (‿)ऐसी वक्र रेखा किया जाता है। उदाहरण—

जात्य = वीर्याणि प्रवोचं य॒ (यजुर्वेद ५-१८)।

क्षैप्र = द्यौरसि पृथिव्यासि (१-२)।

प्रश्लिष्ट = अभीन्धातामुखे वरुं श्रीष्वा (११-६१)

अभिनिहित = घर्मोऽसि १-२। वधोऽसि १-२८)

"उदात्तपरा अधस्तात् चिह्नेन"।

यदि जाति क्षैप्र प्रश्लिष्ट और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्तवर्ण हो तो इनके नीचे ꣳ ऐसा चिह्न लगाया जाता है। उदाहरण—

जात्य = वेदूंत्युमर्वतां त्वा (२-९)।

क्षैप्र = उर्वुन्तरिक्षमन्वेमि (१-७-११)।

प्रश्लिष्ट = अभीमं महिमा (३८-२७)।

अभिनिहित = पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च (१-२५)।

जात्य क्षैप्र प्रश्लिष्ट और अभिनिहित स्वरित से परे जहाँ अनुदात्त हो या एकश्रुति हो। अथवा—जहाँ कोई भी वर्ण आगे न हो तो _ ऐसा चिह्न किया जाता है। और जहाँ इन से परे उदात्त हो तो उसके नीचे ꣳ ऐसा चिह्न लगाया जाता है। _ इस चिह्न को पूर्ण न्युब्जीकरण कहते हैं और ꣳ इस चिह्न को अर्ध न्युब्जीकरण कहते हैं। तत्र हस्तन्युब्जीकरणं कुर्यात्।

"तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्" (पाणिनिसूत्र)।

संस्कृते—'ह्रस्वग्रहणमतंत्रम्' अतंत्रम् = अप्रधानम् उपलक्षणार्थत्वात्। अर्थात्-सर्वेषामेव ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्वरितानामेषः स्वरविभागः।

स्वरित के आदि की आधी ह्रस्वमात्रा उदात्त होता है, और शेष अनुदात्त होता है। इसी प्रकार दीर्घ प्लुत सभी स्वरितों के आरम्भ की आधी मात्रा उदात्त मानी जाती है।

उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ह्रस्व स्वरित की पूर्व आधी मात्रा उदात्त और आधी मात्रा अनुदात्त होती है। इसी प्रकार दीर्घ की भी पूर्व आधी मात्रा उदात्त और शेष १॥ डेढ़ मात्रा अनुदात्त एवं प्लुत की पूर्व आधी मात्रा उदात्त और शेष २॥ अढ़ाई मात्रा अनुदात्त होती है। उदाहरण—क्व १वोऽश्वाः, रथानां न ये २ऽराः, शतचक्रं यो ३ऽह्यः।

"गुं"

" ॐछन्दसि" यह सारस्वत का सूत्र है।

छन्द में मकार को अनुस्वार ॐ आदेश होता है।

"अनुस्वार ठँ शेष्मसुमकारः" (प्रा० शा० सुत्र)

मकारोऽनुस्वारमापद्यते शेष्मप्रत्ययेषु रेफे परतः।

उष्म = श ष स ह और रेफ परे होने पर मकार को अनुस्वार (गुँ) आदेश होता है।

"नुश्चान्तः पदे रेफे" (प्रा० शा० सू०।)

नकारोऽनुस्वारमापद्यते।

न, म, आदि वर्ण परे हो तो मकार रूप अनुस्वार होता है, न कि गुंकार रूप में। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रातिशाख्य पंचदश शाखाओं के लिये सामान्यधर्म बतलाता है। विशेषरूप से श्रीकात्यायन ने पृथक् रूप से माध्यान्दिनीशाखा लिये सूत्र लिखा है।

ह्रस्वादग्रे भवेद् दीर्घो, दीर्घादग्रे भवेल्लघुरिति नियमः।

(क) लघ्वनुस्वारे—अङ्गुष्ठाकुञ्चनं कार्यम् = अपाॐरसेन व्वरुणः !

(ख) दीर्घगुंकारे तर्जनीप्रसारः = गणपतिꣳहवामहे।

(ग) संयोगे च परे ह्रस्वः = सॐस्याम।

ऋवर्ण से परे होने पर भी दीर्घ अथवा ह्रस्व वर्ण पूर्व में हो तो भी अनुस्वार द्विमात्रिक (दीर्घ) ꣳ होता है। जैसे—देवानांꣳहृदये (१६-५४)

सूचना—वर्तमान समय में गुरु अनुस्वार (गूँ) की लिपी प्रायः नष्ट हो चुकी है, परन्तु केवल उच्चारण मात्र प्राचीन सम्प्रदाय के द्वारा ही जाना जा सकता है (अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं)। गुंकार के स्वरूप प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार पाये जाते हैं दीर्घ = ठ.। ह्रस्व = ढ.। अब-ꣳ ॐ

विसर्ग (:) का स्वरूप—

"विसर्गोष्वपीषद् विरामः" (प्रतिज्ञा पा० सू० ४)।

ह्रस्वात्परे दीर्घात् परे च क्रमेण विसर्गस्य स्थाने पूर्वस्वरसहितस्य हकारस्य प्रतीतिः। वर्ग पञ्चमाक्षरात्परस्य विसर्गस्य सानुनासिकं हकारोच्चारणम्। विसर्गे तु यत्र ः एवं चिह्नं, तत्र अधो मध्ये दक्षिणे वा हस्तो गमिष्यति केवलं कनिष्ठिका एव प्रक्षेप्तव्या। वेद में अनुदात्त एवं प्रचय से परे विसर्ग ः हो तो दाहिने,

नीचे और मध्य में हाथ ले जाय। केवल कनिष्ठा अङ्गुली चलानी चाहिये। अन्य अंगुलियों को मुट्ठी बाँध लेवें।

दक्षिण का उदाहरण = पद्भ्याम्भूमिर्द्दिशः (दाँ ये)।

अनुदात्त का उदाहरण = उदैत्पुरुषः (नीचे)।

प्रचय का उदाहरण = सहस्रशीर्षा पुरुषः (मध्य)।

(२) विसर्गे तु यत्र ः एवं चिह्नं, तत्र वामे भागे उपरि च हस्तो गमिष्यति केवलं तर्जनी एव प्रक्षेपणीया।

उदात्त से परे यदि विसर्ग हो तो हाथ को ऊपर या बायें ले जाय और केवल तर्जनी अंगुली फैलावे। जैसे—

उदात्तः मर्थोपुरः (ऊपर)

सहस्राक्षः (बाँ ये)

विसर्गे तु यत्र ÷ एवं चिह्नं तत्र कनिष्ठिकातर्जन्यौ प्रक्षेपणीये।

दीर्घ स्वरित अथवा ह्रस्व से स्वरित परे विसर्ग हो तो कनिष्ठा ही खोले और ह्रस्व स्वरित परे विसर्ग हो तो कनिष्ठिका और तर्जनी दोनों अंगुली खोलनी चाहिये। जैसे—

सूचीभिं ÷ शम्यन्तुत्वा यहाँ दोनों अँगुली खोले।

विसर्गों के नाम—

तरा बलिका और प्रचिता कहते हैं।

तरा को उदात्त ः विसर्ग कहते हैं।

बलिका को अनुदात्त ः विसर्ग कहते है।

प्रचिता को स्वरित ÷ विसर्ग कहते हैं।

अवग्रहः—

"अवग्रहः पदान्तवत्" अवग्रहशब्देन पूर्वपदमिहाभिधीयते अवग्रहः यथा अद्भ्यऽइत्यत्। भ्यः। व्वाजऽइति वाजः। तिष्ठद्भ्य इति। तिष्ठत् भ्यः तिष्ठत्। भ्यः।

"अवग्रह अन्तोदात्तः स्यात्तदनन्तरम्" अवग्रहादव्यवहितोत्तरः स्वरितस्वरः स्यात् तदा तैरोऽविरामसंज्ञः स्वरो भवति। अवग्रहाभावे तु तैरो व्यञ्जन एव। अवग्रहस्तु पदपाठे भवति, स तु वेष्टनशब्देन प्रसिद्धः। यथा—अतिथिभिरित्यतिथिम्। अपि च–यज्ञा यज्ञियमिति यज्ञा। यज्ञियम्।

रङ्गः—

स्वरपरे अनुनासिक को रङ्ग कहते हैं। अथवा-जिस अक्षर के आगे ३̐॥, अथवा—१॥ का अङ्क हो उसको रङ्ग कहते हैं। रङ्ग में तर्जनी अंगुली खोले।

उदाहरण—

तथा लोका ३̐॥ अंकल्पयन्	जहिशत्रू १̐॥ रपमृधं ÷ ।
महा ३̐॥ इन्द्रं ÷	क्रतू १̐॥ रनुं ।
देवा ३̐॥ इदंषि	वनस्पती १̐॥ रनुं ।
वशा ३̐॥ अनुं	परिधी १̐॥ रनुं ।

पाद एवं पदादिस्थस्य यकारस्य संयुक्तस्य ऋकारेण युक्तस्य आदिमध्यावसानस्थस्य द्वित्वस्य च चवर्गतृतीय जकारोच्चारणम् ।

पद एवं पाद के आदि में तथा संयोग और अवग्रह (पद के वेष्टन) में यकार को जकार का उच्चारण करते हैं।

पाद में—**यज्ञेन ।**

पद में—**यज्ञम् ।**

संयोग में—**गेह्याय (१६-४४) ।**

हकार रेफ संयुक्त ऋकार के संयोग में ही यकार को जकार उच्चारण होता है। उदाहरण—

हकार मे—**गेह्याय ।**

रेफ में—**वीर्याणि ।**

संयुक्त ऋकार में—**सामान्यृग्भिः ।**

जहाँ दो यकार हो वहाँ भी जकार उच्चारण होता है। जैसे—**धाय्या रूपम् (१९-२४) ।**

इसी प्रकार बकार भी पदादि में द्वित्व होता है। उसको तीन प्रकार का उच्चारण करना चाहिये। आदि में गुरु, मध्य में लघु, अन्त में लघुतर-जैसे—**ब्वायवस्थ (सं १-१) सर्व्वतं ÷**

ऋकारस्य रकारस्य च एकारसहितोच्चारणम् ।

श ष स ह और ऋकार के योग में वर्णान्तर से असंयुक्त रेफ का "रे"

उच्चारण होता है जैसे—"सहस्रशीर्षा" यहाँ शीरेषा उच्चारण होता है। "कृण्वन्ति" यहाँ क्रेण्वन्ति ऐसा उच्चारण होता है। तृतीय अन्तःस्थ वर्ण लकार का भी "ले" उच्चारण होता है। जैसे—"शतवल्शोधिरोह" (५–४५) यहाँ "वलेशो" ऐसा कहा जाता है उपसर्ग से परे यकार को जकार उच्चारण नहीं होता और वकार द्वित्व नहीं होता है जहाँ पर होता हो वहाँ साम्प्रदायिक ही जानना चाहिये। अथवा विकल्प से जानना।

षकारस्यासंयुक्तस्य संयुक्तस्य च टवर्गं विहाय कवर्गद्वितीयवर्णं खकारोच्चारणम्।

मूर्धन्य षकार का खकार उच्चारण होता है। परन्तु टवर्ग के योग में षकार का खकार उच्चारण नहीं होता।

वो वां वै वा यदि युष्मदर्थ में हों अथवा–निरर्थक हो या पादपूर्ति में एवं आदेश अर्थ में हो अथवा विकल्पार्थ बोध हो तो वहाँ वकार का द्वित्व उच्चारण नहीं होता। उदाहरण—

युष्मदर्थ में—देवोवः सविता (१–१)।

निपात (निरर्थक) में—वातो वा (९–७)।

विकल्पार्थ में—मित्रा वरुण नेत्रा वा मरुन्नेत्रा (९–३६)।

संयोगादि वर्ण को द्वित्व होता है, परन्तु ऋवर्ण परे रहते द्वित्व नहीं होता। जैसे—ऊष्म और अन्तस्थ से परे स्पर्श को द्वित्व होता है। यदि मध्य में ऊष्म हो और दोनों तरफ स्पर्श हो तो पूर्व और पर दोनो स्पर्शों को द्वित्व नहीं होता। और रेफ हकार से परे पर वर्ण का द्वित्व होता है।

"हलः द्वित्व उच्चारणम्"

ऋचाओं के अन्त में मकार हल् हो तो दोनों ओठों को पृथक् कर फिर उसी मकार का धीरे से उच्चारण करना चाहिये और मुट्ठी भी बाँधनी चाहिये। जैसे—गर्भधम् (३–१९)।

जहाँ तकार हो वहाँ अंगुष्ठ और तर्जनी दोनों अंगुलियों को मिलाकर कुण्डलाकृति करनी चाहिये। जैसे—सहस्रपात्।

जहाँ नकार हो वहाँ अंगुष्ठ में तर्जनी के नख का स्पर्श करना चाहिये। जैसे–रश्मीन्।

"क् ट् ङ् ण्" यदि हल हो तो तर्जनी अंगुली को झुका देनी चाहिये। उदाहरण—
ककार में—भिषक् (१६—५)
टकार में—स्वाट् २—१८

ङकार और णकार का उदाहरण पद पाठ में मिलता है। संहिता में नहीं। जैसे—दध्यङ् ११—३० । वृषण् ११—११ ।

पकार यदि हल् हो तो पाँचों अंगुली एकत्रित कर संकोच कर लेवें। इसका भी प्रतीक मंत्र में उदाहरण मिलता है। जैसे—गायत्री त्रिष्टुप् २३—३३ ।

१—स्वरित में तीन अंगुल, अनुदात्त में छ अंगुल, उदात्त में नौ अंगुल कर हस्त चालन करे।

२—अनुदात्त में उदात्त से हाथ को वाम भ्रू से आरम्भ करे, उदात्त स्वरित, उदात्त को क्रम से दक्षिण को हाथ लावे स्वरित से उत्तर में अनुदात्त हो तो उसको तत्त्वज्ञ जन प्रचय स्वर कहते हैं अथवा एकस्वर भी कहते हैं।

परिशिष्टम्

श्रीरामजी का वर्णन ऋग्वेद में भी आता है—

ॐ प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु ।
ये युक्त्वाय पञ्चशतास्मयु पथा विश्राव्येषाम् ।
(ऋग्वेद मण्डल १०–सूक्त ९३–मंत्र १४)

देवताओं ने अपनी अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये यज्ञ मार्ग में पाँच सौ घोड़ों से युक्त रथों को खड़ाकर दुःशीम पृथवान् वेन और प्रतापी श्रीरामजी आदि धनपति राजाओं के सम्मुख प्रशंसा युक्त स्तोत्रों का पाठ सुनाये ।

रामम्—ऋक् मं० १०—सू० ३–मं० ६ ।
प्रभराम—यजुः अ० १६—मं० ४८ ।
रामम्—सामवेद, उत्तरार्चिक प्रपाठक ७—मं० ३–५ ।
रामः—अथर्वकाण्ड ६—अ० १३—सूक्त १३३—१ ।
रामे—अथर्व का० १—अ० ५—सूक्त २३–१ ।

ॐ सचन्त यदुषसः सूर्य्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन् ।
आयन्नचत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो नकिरद्धानुवेद ॥
(ऋग्वेद मण्डल १०–सूक्त १११–मंत्र ७)

ज्ञानशील विद्वानों ने इस राम की संपत्ति तीनों वेदों के सारभूत 'रां' इस पद को शब्द से और अर्थ से प्राप्त (जानलियां) किया । यदि कोई कहे कि उकार नहीं है तो–यदुषसः = उषाकाल के समान अल्प प्रकाश जो विराज (विराड्) अकार रूप है, वह सूर्य के साथ अर्थात्–पूर्ण प्रकाश उकार रूप हिरण्य गर्भ के साथ, सचन्त = ऐक्य को प्राप्त होकर स्थित है । अर्थात्–कार्य सामान्य से अकार में ही उकार समावेश है । ऐसा होने पर भी 'अम्' यही निष्पन्न हुआ, 'राम्' नहीं । इस पर कहते हैं कि—चित्राम् = चित्र अग्नि का वाचक है, तद् बीज रेफ है, वह रेफ सस्वर स्वर विशिष्ट होने पर, अम् के साथ सवर्ण दीर्घ करने पर 'राम्' यह पद होता है । इस प्रकार यह अर्थ है—रेफार्थ अग्नि रूप चिदाभास के साथ समष्टि स्थूल और सूक्ष्म कारणों का इस 'राम्' पद से प्रदर्शित हुआ । अर्धमात्रा जो ॐकार में मानी जाती है, वह इस 'राम्' पद में भी विद्यमान है । अर्थात्—रेफाकार उकार विशिष्ट अर्धमात्रात्मक मकार सिद्ध है । दृष्टान्त–दिवो

नेति-'न' उपमार्थक है। जैसे—जागृत अवस्था में दृष्ट पदार्थ ही स्वप्नावस्था में दृष्ट होते हैं। उसी प्रकार समष्टित्रय के वाचक 'राम' पद से क्रमशः व्यष्टि रूप स्थूल सूक्ष्म कारणवाचि 'राम्' पद को पुनः पढ़ना चाहिये।

इसका विशेषण—आयन्नक्षत्रमिति = आयन् और नक्षत्र यह विशेषण हैं।

'आ' इति स्वरूपं य इव आचरतीति विग्रहे यत्। आचारक्विबन्ताद् यत्प्रातिपदिकाद् धातोः कर्तरि क्विबिति तस्मिँस्तुक् "आयत्" स्वरूपं सिद्धम्। इदं वर्णद्वयं द्वितीयेन रामित्यनेन सह पठितं चेत् 'रामाय' इति चतुर्थ्यन्तं पदं भवति।

"आय" यह दोनों वर्ण द्वितीयवार पठित 'राम्' के साथ जोड़ने पर 'रामाय' यह चतुर्थ्यन्त पद हुआ।

तदनन्तर—नक्षत्र पद से नक्षत्रों में मुख्य चन्द्र ही लिया गया है और चन्द्र का कारण मन है, एवं मन का कारण हृदय है। अतः नक्षत्र पद से हृदय पदार्थ ही लिया गया है। हृदयशब्दार्थ-आगम शास्त्र में 'नमः' पद माना गया है। यथा—'ता अन्नमसृजन्त' इति श्रुतिः। इस स्थल में 'अन्न' पद पृथिवी का बोधक है, इसी प्रकार हृदय शब्दार्थ 'नमः' शब्द उद्धृत हुआ।

यतः = यतमानस्य-प्रयत्नशील पुरुष की।

नकिरद्धानुवेद = इतस्ततो न फिरति न विक्षिपति इति नकिः। स्थिर मनः, अद्धा = साक्षात्, नु = निश्चितं, वेद = जानाति। अर्थात्—प्रयत्नशील पुरुष मन को स्थिर बुद्धि निश्चय रूप से उसको जान सकता है।

मंत्रार्थस्तु—रां रां चासौ आश्चेति रां रामः तस्मै रामाय नमः। "मनसा साक्षात्करोतीति" "मनसैव वेदितव्यमित्यर्थः" श्रुतिः।

मंत्र का अर्थ अनुसन्धान करते हुए पदार्थ स्वरूप का मन से साक्षात्कार होता है।

इति रामतारकमंत्रार्थः॥

परिशिष्टम्

नारायण शब्द की व्युत्पत्ति—

'नर :'—नृ नये इत्यस्माद् धातोः नरतीति नयतीतिः विग्रहे 'ऋदोरप्' इति सूत्रेण अप् प्रत्यये गुणे च कृते विभक्तिकार्ये 'नरः' इति रूपं निष्पन्नम् ।

समस्त जीवों के कर्मानुसार यथार्थ रूप में न्याय करने से उस परमात्मा का नाम नर हुआ है । 'नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः' (इति मनुना उक्तम्)

अतः नर पद वाच्य परात्पर ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीराम ही हैं ।

'नार :'—नराणां समूहो नार इति विग्रहे, समूहार्थे अणप्रत्यये 'तद्धितेष्वचामादेः' इति सुत्रेण आदेरचोवृद्धौ विभक्तिकार्ये 'नारः' इति रूपं सिध्यति ।

अम् इत्यस्माद् धातोः, 'अम्यते प्राप्यते' इति विग्रहे, कर्मणि घञ् प्रत्यये विभक्तिकार्ये 'आमः' इति रूपम् अथवा अम्यते अनेनेति विग्रहे अथवा—अमन्ति गच्छन्ति अस्मिन्निति विग्रहे, सर्वत्र घञ् प्रत्यये आदिरचो वृद्धौ विभक्तिकार्ये 'आमः' इतिरूपम् आधारार्थे सिध्यति ।

नारस्य आमो गतिरिति विग्रहे, षष्ठी समासे विभक्ति लुकि, सर्वणदीर्घे, 'नाराम' 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रेण 'ना' इत्यस्य लोपे कृते विभक्तिकार्ये 'रामः' इति समस्त प्राणिमात्रसमूहस्य गन्तव्यार्थे सिद्धयति ।

समस्त नर-नारियों के एवं प्राणिमात्र के अन्तःकरण में आयन = आश्रय (जो अपना रहने का स्थान) बना रखा है, वह भगवान् राम ही का नारायण नाम प्रसिद्ध हुआ है ।

दूसरे प्रकार का भी है—नाराः आपः, आमः शयनार्थमाश्रयो यस्य स रामः । जल है, शयन का आश्रय जिसका, उन्हें राम कहते हैं ।

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति—

वेवेष्टीति विग्रहे, विष्लृ व्यापक धातु से 'क्नु' प्रत्यय लगाने से विष्णु शब्द बनता है, कित्वात गुण नहीं होता है ।

अथवा—विष्णुत्वात्सर्व प्राणिनोऽपि भूतेन्द्रियमनोजीवभावेन शरीरान्ते प्रविशतीति विष्णुः । अतः व्यापक और रमण दोनों का एक ही अर्थ है इसलिये विष्णु को ही राम कहते हैं ।

श्री शब्द की व्युत्पत्ति—

श्रयन्तीं श्रियमाणाञ्च श्रीणातीं शृण्वतीमपि ।
शृणाति निखिलान् दोषान् श्रीणाति च गुणैर्जगत् ॥
श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परम्पदम् ।
श्रीशब्दस्य हि भावार्थः सूरिभिरनुमीयते ॥
श्रयन्त्येतामिति श्रीः (अभियुक्तसारवल्यां ग्रन्थे)

श्रिञ् सेवायां धातु से 'बाहुलकात्कर्मणि क्विप्' 'क्विब्वचिप्रच्छ्याय तस्तुकटप्रुजु श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' इस वार्तिक से क्विप् और प्रकृति का दीर्घ करने पर श्री बना है। यद्यपि 'श्रयति हरिं या सा श्रीः'। इस व्युत्पत्ति से श्री शब्द निष्पन्न होता है, क्विप् प्रत्यय कर्ता में होता है, तथापि 'श्रीयते चाखिलैर्नित्यम्' इस निरुक्तिवचन द्वारा कर्म में भी क्विप् प्रत्यय होता है।

श्रीयते ब्रह्मेन्द्ररुद्रादि–मुनिवरगणैश्च चराचरचेतनैश्च सेव्यते, इतिश्रीः।

अर्थात्—जो ब्रह्मा इन्द्र रुद्र मुनि श्रेष्ठ चराचर समस्त जगत् से सेवित, वही श्री जी हैं।

श्रु श्रवणे धातु से भी 'औणादि के डी' इस सूत्र से डी प्रत्यय टि लोप विभक्ति-कार्य करने पर श्री शब्द बना है।

अर्थात् चेतनकृतं किञ्चिदपि प्रार्थना रूप विज्ञापनं भगवन्तं श्रीरामं श्रावयति अथवा स्वयं वात्सल्य सौशील्यादि दिव्यगुण जलनिधित्वात् शृणोतीति श्रीः।

शरणागतों की किञ्चिदपि (थोड़ी सी भी) प्रार्थना हो तो उसको विस्तार पूर्वक भगवान् श्रीराम को सुनाती हैं, अथवा—वात्सल्य सौशील्यादि दिव्यगुणों के समुद्र श्री जी स्वयं सुनाती हैं, वही श्री जी हैं।

पुरुषसूक्त-न्यासः

अस्य श्री पुरुष-सूक्तमन्त्रस्य नारायण ऋषिः। आद्याः पञ्चदश अनुष्टुप् अन्त्या-त्रिष्टुप्। पुरुषोदेवता। जगद्बीजं न्यासे विनियोगः।

अस्य उत्तरनारायणसूक्तस्य नारायणऋषिः। आद्यानां तिसृणां त्रिष्टुप्छन्दः। चतुर्थ पञ्चमयोरनुष्टप्छन्दः। अन्त्यायाः त्रिष्टुछन्दः। आदित्योदेवता न्यासे विनियोगः।

हृदय-न्यासः

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्चविश्वकर्मणः समवर्तताग्रे। तस्यग्रे त्वष्टा विदध-द्रूपमेतितन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे। हृदयाय नमः।

वेदाहमेतं पुरुषमित्यादिना···शिरसे स्वाहा।

प्रजापतिश्चति, इत्यादिना…शिखायै वषट्।
यो देवेभ्य इत्यादिना…कवचायहुम्।
रुचं ब्राह्मये इत्यादिना…नेत्रत्रयाय बौषट्।
श्रीश्चते लक्ष्मीश्च इत्यादिना…अस्त्राय फट्।

अङ्गन्यासः

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
१ स भूमिꣳ सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ वामकरे ॥
पुरुषऽएवेदꣳ सर्वंयद्भूतं यच्चभाव्यम्।
२ उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ दक्षिणकरे ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
३ पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि ॥ वामपादे ॥
त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
४ ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशना नशनेऽअभि ॥ दक्षिणपादे ॥
ततो विराडजायतविराजोऽअधिपूरुषः ।
५ स जातोऽअत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथोपुरः ॥ वामजानुनि॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतंपृषदाज्यम्।
६ पशूँस्ताँश्चक्रेवायव्या नारण्याग्राम्याश्च ये ॥ दक्षिणजानुनि॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
७ छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥वामकट्याम्॥
तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चो भयादतः।
८ गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥दक्षिणकट्याम्।
तं यज्ञम्बर्हिषिप्रौक्षन्पुरुषञ्जातमग्रतः।
९ तेनदेवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये ॥ नाभौ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन् ।

१० मुखंकिमस्यासीत्किम्बाहूकिमूरूपादाऽउच्येते ॥ हृदये ॥

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ।

११ ऊरूतदस्ययद्वैश्यः पदभ्याᳬशूद्रोऽअजायत ॥ वामबाहौ ॥

चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत ।

१२ श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ दक्षिणबाहौ ॥

नाभ्याऽसीदन्तरिक्षᳬ शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत ।

१३ पद्भ्यांभूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकाँ २॥ अकल्पयन् ॥ कण्ठे ॥

यत्पुरुषेण हविषादेवायज्ञमतन्वत ।

१४ वसन्तोऽस्यासीदाज्यङ्ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः ॥ मुखे ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्तसमिधः कृताः ।

१५ देवायद्यज्ञन्तन्वानाऽअबध्नपुरुषम्पशुम् ॥ नेत्रयोः ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानिधर्म्माणि प्रथमा न्यासन् ।

१६ तेहनाकम्महिमानः सचन्तयत्रपूर्वेसाध्याः सन्तिदेवाः ॥मूर्ध्नि ॥

श्रीराम-मानसोपचारपूजनम्

१	ॐ श्रीं क्लीं अं केशवाय नमः	ॐ कीर्त्यै नमः शिरसि
२	,, ,, ,, आं नारायणाय नमः	ॐ कान्त्यै नमः मुखे
३	,, ,, ,, इं माधवाय नमः	ॐ तुष्ट्यै नमः दक्षिणनेत्रे
४	,, ,, ,, ईं गोविन्दाय नमः	ॐ पुष्ट्यै नमः वामनेत्रे
५	,, ,, ,, उं विष्णवे नमः	ॐ श्रुत्यै नमः दक्षिणकर्णे
६	,, ,, ,, ऊं मधुसूदनाय नमः	ॐ शान्त्यै नमः वामकर्णे
७	,, ,, ,, ऋं त्रिविक्रमाय नमः	ॐ क्रियायै नमः दक्षिणनासिकायां
८	,, ,, ,, ॠं वामनाय नमः	ॐ दायायै नमः वामनासिकायां
९	,, ,, ,, ऌं श्रीधराय नमः	ॐ मेधायै नमः दक्षिणकपोले
१०	,, ,, ,, ॡं हृषीकेशाय नमः	ॐ हृषायै नमः वामकपोले
११	,, ,, ,, एं पद्मनाभाय नमः	ॐ श्रद्धायै नमः ऊर्ध्वोष्ठे
१२	,, ,, ,, ऐं दामोदराय नमः	ॐ लज्जायै नमः अधरोष्ठे
१३	,, ,, ,, ओं वासुदेवाय नमः	ॐ लक्ष्म्यै नमः ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ
१४	,, ,, ,, औं संकर्षणाय नमः	ॐ सरस्वत्यै नमः अधोदन्तपंक्तौ
१५	,, ,, ,, अं प्रद्युम्नाय नमः	ॐ प्रीत्यै नमः जिह्वायाम्
१६	,, ,, ,, अः अनिरुद्धाय नमः	ॐ रत्यै नमः ग्रीवायाम्
१७	,, ,, ,, कं चक्रिणे नमः	ॐ जयायै नमः दक्षिणस्कन्धे
१८	,, ,, ,, खं गदिने नमः	ॐ दुर्गायै नमः दक्षिण
१९	,, ,, ,, गं शार्ङ्गिणे नमः	ॐ प्रजायै नमः दक्षिणमणिबन्धे
२०	,, ,, ,, घं खड्गिने(खङ्गिने) नमः	ॐ सत्यायै नमः दक्षिणहस्तांगुलिमूले
२१	,, ,, ,, ङं शंखिने नमः	ॐ चण्डायै नमः दक्षिणहस्तांगुल्याग्रे
२२	,, ,, ,, चं हलिने नमः	ॐ वाण्यै नमः वामस्कन्धे
२३	,, ,, ,, छं मुसलिने नमः	ॐ विलासिन्यै नमः वाम
२४	,, ,, ,, जं शूलिने नमः	ॐ विजयायै नमः वाममणिबन्धे
२५	,, ,, ,, झं पाशिने नमः	ॐ विरजायै नमः वामकरांगुलीमूले
२६	,, ,, ,, ञं अंकुशिने नमः	ॐ विश्वायै नमः वामकरांगुल्याग्रे
२७	,, ,, ,, टं मुकुन्दाय नमः	ॐ विमदायै नमः दक्षिणपादमूले
२८	,, ,, ,, ठं नन्दजाय नमः	ॐ सुनन्दायै नमः दक्षिणजानुनि
२९	,, ,, ,, डं नन्दिने नमः	ॐ स्मृत्यै नमः दक्षिणपादगुल्फे

३० ,, ,, ,, ढं नराय नमः	ॐ ऋद्ध्यै नमः दक्षिणपादांगुलिमूले
३१ ,, ,, ,, णं नरकजिते नमः	ॐ समृद्ध्यै नमः दक्षिणपादांगुल्यग्रे
३२ ,, ,, ,, तं हरये नमः	ॐ शुद्ध्यै नमः वामपादमूले
३३ ,, ,, ,, थं कृष्णाय नमः	ॐ बुद्ध्यै नमः वामपादजानुनि
३४ ,, ,, ,, दं सत्याय नमः	ॐ भुक्त्यै नमः वामपादगुल्फे
३५ ,, ,, ,, धं सात्वताय नमः	ॐ मत्यै नमः वामपादांगुलिमूले
३६ ,, ,, ,, नं शौरये नमः	ॐ क्षमायै नमः वामपादांगुल्यग्रे
३७ ,, ,, ,, पं शूराय नमः	ॐ रमायै नमः दक्षिणपार्श्वे
३८ ,, ,, ,, फं जनार्दनाय नमः	ॐ उमायै नमः वामपार्श्वे
३९ ,, ,, ,, बं भूधराय नमः	ॐ क्लेदिन्यै नमः वामपृष्ठे
४० ,, ,, ,, भं विश्वमूर्तये नमः	ॐ क्लिन्नायै नमः नाभौ
४१ ,, ,, ,, मं वैकुण्ठाय नमः	ॐ वसुदायै नमः उदरे
४२ ,, ,, ,, यं त्वगात्मनेपुरुषोत्तमाय०	ॐ वसुधायै नमः हृदि
४३ ,, ,, ,, रं असृगात्मनेबलिनेनमः	ॐ परायै नमः वक्षांसे
४४ ,, ,, ,, लं मांसात्मनेबलानुजाय०	ॐ परायणायै नमः ककुदि
४५ ,, ,, ,, वं वेदात्मनेबलाय नमः	ॐ सूक्ष्मायै नमः वामांसे
४६ ,, ,, ,, शं अस्थ्यात्मने वृषभाय०	ॐ सन्ध्यायै नमः, हृदयादिदक्षिणकरान्तम्
४७ ,, ,, ,, षं मज्जात्मनेवृषभायनमः	ॐ प्रज्ञायै नमः हृदयादिवामकरान्तम्
४८ ,, ,, ,, सं शुक्रात्मने हंसाय नमः	ॐ प्रभायै नमः दक्षिणपादान्तम्
४९ ,, ,, ,, हं प्राणात्मनेवाराहायनमः	ॐ निशायै नमः वामपादान्तम्
५० ,, ,, ,, ळं शक्त्यात्मनेविमलाय०	ॐ अमोघायै नमः जठरान्तम्
५१ ,, ,, ,, क्षं क्रोधात्मनेनृसिंहायनमः	ॐ विद्युतायै नमः मुखान्तम्
५२ ,, ,, ,, भं भरताय नमः	ओं माण्डव्यै नमः
५३ ,, ,, ,, शं शत्रुघ्नाय नमः	ओं श्रुतिकीर्त्यै नमः
५४ ,, ,, ,, लं लक्ष्मणाय नमः	ओं उर्मिलायै नमः
५५ ,, ,, ,, रां रामाय नमः	ओं सीतायै नमः
५६ ,, ,, ,, हं हनुमते नमः	ओं अञ्जनायै नमः

श्रीं बीजम् । मायाबीजम् = ह्रीं । कामबीमूज = क्लीं । वाणीबीजम् = ऐं 'श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं, कमलवासिन्यै स्वाहा'

इस मंत्र को दसलाख जप करे तो कल्पवृक्ष के समान फल देवे ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

नवीन-

अनुवाद-चन्द्रिका

डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी

इस संस्करण की विशेषता—

(१) छात्रों को अनुवाद करने का नियम नवीन वैज्ञानिक ढंग से समझाया गया है, और तदनुसार अनुवादार्थ अभ्यास भी दिए गए हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ के १ से १८ सोपानों में अनुवाद प्रक्रिया को अथ से इति तक समझाया गया है।

(२) संस्कृत भाषा के ज्ञान के लिए अनिवार्य सम्पूर्ण व्याकरण, अनुवाद और अभ्यासों के द्वारा अत्यन्त सरल रीति से समझाया गया है।

(३) समस्त आवश्यक शब्दों तथा धातुओं के रूप निबद्ध किये गये हैं। १०० तक पूरी गिनती तथा महाशंख तक की संख्याएँ दी गयी हैं।

(४) संस्कृत भाषा में पत्र-लेखन, प्रस्ताव, अनुमोदन आदि करना समझा गया है।

(५) वाग्व्यवहार के प्रयोग एवं संस्कृत सूक्तियों का हिन्दी अनुवाद ... लोकोक्तियों के संस्कृत पर्याय एवं अंग्रेजी-संस्कृ[illegible] श[illegible]ावली भी प्र[illegible] गयी है।

(६) अशुद्ध वाक्यों को शुद्ध करने का विशेष अभ्यास करा[illegible] पुनश्च संस्कृत व्यावहारिक शब्दों को एकत्रित किया गया है।

(७) संस्कृत में निबन्ध लिखने के लिए आवश्यक निर्देश [illegible] ६ एवं २२ निबन्ध अत्युपयोगी विषयों पर लिखे गये हैं।

(८) तीस विषयों पर अनुवादार्थ हिन्दी संदर्भ प्रस्तुत किये गये

(९) संक्षिप्त धातुकोष में इस ग्रन्थ में प्रयुक्त समस्त [illegible] पाँच लकारों के रूप दिये गये हैं।

अन्त में रोमन अक्षरों में संस्कृत लिखने की विधि समझायी गयी है। पुनश्च [illegible]योपयोगी चिह्नों पर भी प्रकाश डाला गया है। तथा १९६९ ई० तक के [illegible] दिये गये हैं।

[illegible] का ठीक अभ्यास हो जाने पर छात्र निःसन्देह शुद्ध रूप से संस्कृत लिख[illegible] है और पढ़ सकता है। स्नातक कक्षा तक के लिए इतने व्याकरण का ज्ञान पर्याप्त है।

मूल्य लागत मात्र ९-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१